अहिंसा पर्यवेक्षण

अहिंसा-पर्यवेक्षण

[प्रागैतिहासिक काल से गांधी-युग तक : अहिंसा पर एक शोधपूर्ण अध्ययन]

लेखक
मुनिश्री नगराजजी

सम्पादक
मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

साहित्य निकेतन
४०६३, नयाबाजार, दिल्ली

प्राक्कथन

आचार्यप्रवर के कलकत्ता प्रवास की बात है। काशीपुर में आचार्यप्रवर के सान्निध्य में तेरापंथ द्विशताब्दी साहित्य के सम्बन्ध में चिन्तन हो रहा था। कुछ एक हम साधुजन व कुछ-एक साहित्य-सेवी श्रावक उसमें भाग ले रहे थे। चर्चा प्रसंग में आचार्यप्रवर ने कहा—अनुकम्पा चौपई को आधुनिक भाव भाषा और शोधपूर्ण आधारों के साथ सर्वसाधारण के सम्मुख रखा जा सके यह अत्यन्त अपेक्षित है। यही चर्चा प्रसंग मेरी ओर आ टला और मुझे इस कार्य के लिए समुद्यत होना पड़ा। जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान-सम्बन्धी कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् भगवान महावीर और बुद्ध विषय पर एक तुलनात्मक और शोधपूर्ण अध्ययन में मैं अपने आपको लगा चुका था। यद्यपि उस विषय से मुक्त होना और लगना अधिक सहज तो नहीं लगा पर उसके पीछे लगा रहा। आचार्यप्रवर का इंगित उसे बहुत भारवान बना चुका था। तेरापंथ द्विशताब्दी के सम्बन्ध में मैं कुछ निम्न मन यह अन्तर्भूत प्रेरणा भी प्रसंग पाकर प्रखर हो उठी और मैं शोध साहित्य-कार्य स्थगित कर इस ओर दत्तचित्त हुआ।

कलकत्ता चातुर्मास में इस सम्बन्ध से विशेष कार्य न हो सका। आचार्यप्रवर के सान्निध्य में चलनेवाली अनेक प्रवृत्तियों से सम्बद्ध होने के कारण प्रस्तुत कार्य गौण ही रह सकता था। केवल अनुकम्पा चौपई का अनुवाद मात्र हो सका। चातुर्मास के पश्चात् कलकत्ता से राजस्थान का प्रलम्बतर विहार प्रारंभ था। शीत ऋतु के छोटे छोटे दिन और प्रतिदिन दोनों समय के लम्बे-लम्बे विहार। साहित्य सृजन के लिए बचा-खुचा समय पैरों की मरहम-पट्टी में लग जाता था। फिर भी अनुकम्पा चौपई के सांकेतिक घटना प्रसंग इस अवधि में लिख लिए गए।

सरदारशहर से आचार्यप्रवर के आदेशानुसार वि० संवत् २०१७ के चातुर्मास प्रवास के लिए हम दिल्ली आये। यहाँ लेखन-कार्य के लिए अनुकूल वातावरण रहा। वांछित ग्रन्थ-सामग्री सुलभ हुई। आषाढ़ शुक्ल पक्ष में अहिंसा पर्यवेक्षण का लेखन-कार्य प्रारम्भ हो गया। अणुव्रत-कार्यक्रम स्थगित जैसा ही

रहा। चिन्तन मनन और ग्रन्थावलोकन की अतिशय प्रवृत्ति से स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। लेखन-कार्य बीच में रोक देना पड़े ऐसी स्थितियाँ भी आई पर जैसे तैसे उठाये कार्य की मंगलमयता ने मुझे बचाया और कार्य को भी पूरा होने दिया। इस प्रवृत्ति में मुझे जितना श्रम उठाना पड़ा उससे अधिक मैं लाभान्वित भी हुआ। अनेकानेक ग्रन्थों का स्वाध्याय हुआ और ज्ञान बढ़ा।

'अहिंसा-पर्यवेक्षण' अहिंसा के असाधारण विवेचक आचार्यश्री भिक्षु-कृत 'अनुकम्पा चौपई' के उपोद्घात के रूप में लिखा गया है। यह उस सानुवाद चौपई और सांकेतिक उदाहरणों के साथ मिलकर 'अहिंसा-विवेक' बन गया है। अहिंसा पर्यवेक्षण 'अनुकम्पा चौपई' का एक अध्ययन होने के साथ साथ अहिंसा के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाला एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी है। इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से अहिंसा सम्बन्धी युग युग की धारणाओं पर विचार किया गया है। प्रागार्य-काल से लेकर आचार्यश्री भिक्षु और महात्मा गांधी तक के अहिंसा विषयक उन्मेषों और निमेषों का इसमें ब्यौरा है। वस्तुस्थिति के विश्लेषण में साम्प्रदायिक आग्रह उस पर हावी न हो जाय यह पूर्ण ध्यान रखा गया है। समीक्षा से आविर्भूत तथ्य अवश्य कुछ नवीन हैं। वैदिक और जैन संस्कृति की ऐतिहासिक धारणाएं बदलकर हमारे सामने आती हैं। अहिंसा का आगमिक और औपनिषदिक रूप निवर्तक जिसे मैंने आरम्भ उन्नायक शब्द से लिखा है प्रमाणित होता है। प्रवर्तक धर्म, जिसे मैंने देहोपचायक दया कहा है नितान्त उत्तरकालिक ठहरता है। वैदिक और जैन अहिंसा के अप्रशस्त अपवाद-संयोजन का प्रसंगोपात्त यथावत रख देना पड़ा है। यह सब साम्प्रदायिक चिन्तना से ऊपर उठे लोगों के लिए लोगवषणा का ही विषय होगा, ऐसी आशा है। अतीत की शोध और समीक्षा का विषय मानकर चला जाये यह एक युग सत्य है।

इसके प्रणयन में मेरा कार्य केवल विचारों को बोल देने भर का है। पाण्डुलिपि से लेकर सम्पन्नता तक का सारा कार्य मेरे सहयोगी मुनियों का ही है। मुनि महेन्द्रकुमारजी द्वितीय ने सम्बन्धित अंग्रेजी ग्रन्थों के जुटाने एवं उनके अवलोकन में हाथ बँटाया। आवश्यक परिशिष्ट तैयार किये। मुनि मानमलजी ने सम्बन्धित ग्रन्थों के स्वाध्याय और प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन-कार्य में लगभग मेरे जितना ही समय लगाया है। मुनि रूपचन्दजी का भी लेखन-कार्य में उल्लेखनीय योग रहा है।

सम्पादन का सारा कार्य मुनि महेन्द्रकुमारजी प्रथम का है। उन्होंने अब तक मेरी और भी दर्जों पुस्तकों का निष्काम और निर्नाम सम्पादन किया है। शुद्धाशुद्धि के दुरूह कार्य में अनेकशः समग्र ग्रन्थ उन्हें पढ़ जाना पड़ा है। उपयोगी सुझाव भी उन्होंने मुझे दिये हैं।

इस ग्रन्थ के लेखन में विभिन्न भाषाओं और विभिन्न विषयों के एक सौ सोलह ग्रन्थ योगभूत हुए हैं। मैं उन सबके रचयिताओं का यथोचित आभारी हूँ।

सं० २०१८ कार्तिक पूर्णिमा
नया बाजार दिल्ली

—मुनि नगराज

सम्पादकीय

अहिंसा का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना कि मानव-जाति का। समय समय पर यहां अनेकों युगपुरुष होते रहे हैं और वे अहिंसा के स्वर को उदात्त करते रहे हैं। इसलिए इसका इतिहास बहुत लम्बा चलता है। वह जितना प्राचीन है उतना रोचक भी। अढ़ाई हजार वर्षों का भगवान महावीर व गौतम बुद्ध के युग से आज तक का व्यवस्थित क्रम तो हमारे सामने है ही। हड़प्पा व मोहन जोदड़ो के भग्नावशेष जिनका कि कालमान उससे भी सहस्रों वर्ष पूर्व का है अपने आप में अहिंसा की विमल धारा समेटे हुए है। वेद उपनिषद आगम व पिटिक अहिंसा के विश्लेषण से भरे हैं। सम्राट अशोक लोकमान्य तिलक व महात्मा गांधी ने कर्म के क्षेत्र में उसके विभिन्न प्रयोग किये। आचार्यश्री भिक्षु ने चल आ रहे प्रवाह में फिर से एक नया मोड़ दिया। शंकराचार्य व गीता की भी अपनी एक निराली मीमांसा है। आधुनिक समाज शास्त्र में भी दया दान सम्बन्धी चिन्तन ने एक नयी करवट ली है।

आज का जिज्ञासु उसके इतिहास को आद्यन्त और निष्पक्ष रूप से एक साथ देखना चाहता है। मुनिश्री नगराजजी ने अहिंसा पर्यवेक्षण के प्रस्तुत उपक्रम में अहिंसा-महासागर के मन्थन से उद्भूत अमृत को इस गागर में भरने का अनूठा अनुष्ठान किया है। मुनिश्री ने विभिन्न युगों में भेद से होने वाले इस चिन्तन को ऐतिहासिक क्रम से नयी शैली में सदृब्ध किया है। साप्ताहिक हिन्दुस्तान ने अहिंसा-पर्यवेक्षण को लेखमाला के रूप में प्रारम्भ करते हुए लिखा था— समय समय पर अनेकानेक युगपुरुष देश में अहिंसा का नया चिंतन प्रस्तुत करते रहे हैं। भगवान श्री महावीर ने निवृत्ति गौतम बुद्ध ने करुणा ईसामसीह ने सेवा शंकराचार्य ने ज्ञान मार्ग गीता ने लोक संग्राहक दृष्टि आचार्य भिक्षु ने निरवद्य लोकमान्य तिलक ने कर्मयोग और महात्मा गांधी ने सत्य आदि रूपों के विविध में अहिंसा-नवनीत प्रस्तुत किया है। व्यस्तता प्रधान युग में अहिंसा-सम्बन्धी विविध ग्रन्थों का स्वतः स्वाध्याय न कर सकने में असमर्थ व्यक्ति के लिए मुनिश्री नगराजजी ने प्रागार्य-संस्कृति से आरम्भ कर वर्तमान गांधी युग तक के अहिंसा

चिन्तन को थोड़े शब्दों में तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के सन्दर्भ के साथ बहुत ही सरस और नयी शैली से एक सूत्र में पिरोकर 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' प्रस्तुत किया है। मुनिश्री नगराजजी मुनि-परम्परा के वाहक हैं अतः विभिन्न दर्शनों और धर्मों का गहरा अनुशीलन उनकी अपनी निधि है ही; किन्तु वह जितने दर्शनधर्मा हैं उतने ही आधुनिक विचार-सरणियों और विशेषतः गांधीवाद और आधुनिक सैद्धान्तिक विधान के अधिकारी विद्वान भी हैं।

मुनिश्री नगराजजी विचारों की तलस्पर्शी गहराई तक पहुँचने वाले एक मनीषी हैं, पर वे पाठक को आदि से अन्त तक भाषा के राजमार्ग पर ही लिये चलते हैं। दुर्गमता और बोझिलता एक ओर रह जाती है। उनका यह प्रयास अहिंसा सम्बन्धी अब तक लिखे गये ग्रन्थों में नूतन होगा, ऐसी आशा है। मुनिश्री के सान्निध्य में जहां मुझे अनेकों काम दिखाए मिली हैं, वहां सम्पादन के क्षेत्र में मैं जहां तक पहुंच पाया हूं, उसका श्रेय भी उन्हें ही है।

—मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

५ दिसम्बर ६१
कठौतिया भवन, सब्जीमण्डी
दिल्ली

अनुक्रम

चिन्तन को थोड़े शब्दों में तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के सन्दर्भ के साथ बहुत ही सरस और नयी शैली से एक सूत्र में पिरोकर 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' प्रस्तुत किया है। मुनिश्री नगराजजी मुनि-परम्परा के वाहक हैं, अतः विभिन्न दर्शनों और धर्मों का गहरा अनुशीलन उनकी अपनी निधि है ही किन्तु वह जितने दर्शनधर्मा हैं उतने ही आधुनिक विचार-सरणियों और विशेषतः गांधीवाद और आधुनिक सैद्धान्तिक विज्ञान के अधिकारी विद्वान भी हैं।

मुनिश्री नगराजजी विचारों की तलस्पर्शी गहराई तक पहुँचने वाले एक मनीषी हैं पर वे पाठक को आदि से अन्त तक भाषा के राजमार्ग पर ही लिये चलते हैं। दुर्गमता और बीहड़ता एक ओर रह जाती है। उनका यह प्रयास अहिंसा सम्बन्धी अब तक लिखे गये ग्रन्थों में नूतन होगा ऐसी आशा है। मुनिश्री के सान्निध्य में जहाँ मुझे अनेक बार दिशाएं मिली हैं वहां सम्पादन के क्षेत्र में मैं जहां तक पहुंच पाया हूं उसका श्रेय भी उन्हें ही है।

५ दिसम्बर ६१ —मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'
कठौतिया भवन, सब्जीमण्डी
दिल्ली

अनुक्रम

अहिंसा-पर्यवेक्षण

प्राणीमात्र की जिजीविषा¹ और भव-मुमुक्षु की स्वाभाविक विजिगीषा² से आविर्भूत यह अहिंसा की धारा कालक्रम के साथ नाना अवरोहों और आरोहों में सतत प्रवाही रही है। इतिहास के राजमार्ग पर लाकर इसके उन्मेष और निमेषों का जब हम चिन्तन करते हैं तो इसकी दार्शनिक जटिलताएं दूर हो जाती हैं और इसका सहज स्वरूप हमारे सामने आ जाता है। इतिहास केवल अतीत की काल-गणना का ही ब्योरा नहीं देता कभी-कभी वह वर्तमान की यथार्थता का भी मानदण्ड बन जाता है।

आगमिक धारणा

आगमिक और पौराणिक धारणा के अनुसार उत्सर्पण और अवसर्पण के प्रत्येक काल-चक्रार्ध में चौबीस तीर्थंकर होते हैं और वे सभी उपदेश करते हैं—प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों की हिंसा न करो, उन पर शासन मत करो, उनको पीड़ित मत

---

१ क सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयन्ति णं ॥ दस० ६ १०

ख सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुह पडिकूला अप्पियवहा पिय जीविणो जीविउकामा। सव्वेसिं जीवियं पियं, णाइवाएज्ज किंचणं।
—आचा० १ २ ३

ग जिजीविषा पर विशेष— 'अहिंसा और धर्म का प्रयोजन' प्रकरण में।

२ क कोहो य माणो य अणिग्गहीया माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥
—दस० ८ १०

ख यत् खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय श्लोक ४३

ग कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव

करो, उन पर प्रहार मत करो यही धर्म शुद्ध है नित्य है और शाश्वत है।[1]

वर्तमान कालचक्रार्ध के प्रथम तीन अध्यायों (आरों) में इस कर्म भूमि पर यौगलिक सभ्यता रही। उस समय सभी लोग भाई बहिन के युगल में पैदा होते और तारुण्य पाकर वही युगल दम्पति रूप में बन जाता। कल्पवृक्ष ही उनकी इच्छाएं पूरी करते। वे रोगी नहीं होते। उनका मारणान्तिक रोग एक छींक व एक जम्भाई होता। वे बहुत सुन्दर होते। कषाय चतुष्क की अल्पता में उनका प्राकृतिक जीवन बहुत सुखी होता। उनमें सहज सबोध होता, पर जीवन व्यवहार में उनके न तो धर्म विवक्षा होती और न धर्म शुश्रूषा। तात्पर्य उन वनवासी युगलों के जीवन में न तो हिंसा की प्रज्वलना थी और न अहिंसा का विहित विकास।[2]

मानव सभ्यता का उदय

इस कालचक्रार्ध के तीसरे अध्याय के अन्त में यौगलिक सभ्यता समाप्त हुई और मानव-सभ्यता का उदय हुआ। प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ प्रभु ने अपने गृहस्थीय जीवन में लोगों को कर्म का प्रशिक्षण दिया जो कि इस मानव-सभ्यता के प्रथम राजा थे। तभी से कृषि वाणिज्य क्षात्र तथा शिल्प प्रभृति कर्मों का प्रारम्भ समाज में हुआ। आदिनाथ प्रभु ने ही अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाओं का द्वितीय पुत्र बाहुबली को शरीर लक्षणों का पुत्री सुन्दरी को गणित का तथा ब्राह्मी को सर्व प्रथम लिपि का ज्ञान दिया।[3] कहा जाता है, वही ब्राह्मी लिपि अब तक प्रचलित है और नाना लिपियों के रूप में उसका विकास हुआ है।

---

१ सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा।

—आचा० १ ४ १

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालाधिकार तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष० पर्व १ सर्ग २ श्लोक १०६ से १२८

३ क त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व १ सर्ग २ श्लोक ९२५ से ९७०

ख तेवट्ठि पुव्वसय सहस्साइं महाराय वासमज्झे वसइ, तेवट्ठि पुव्वसय सहस्साइं महाराय वासमज्झे वसमाणे लेहाइआओ गणियप्पहाणाओ सउणरुय पज्जवसाणाओ बावत्तरिकलाओ चोसट्ठिं महिला गुण, सिप्पसयंच कम्माणं तिण्णिवि पयाहिआए उवदिसइ।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालाधिकार

अब तक के समाज मे अहिंसा धर्म का उपचरित उदय नही था, पर वाणिज्य आदि कर्मों के साथ-साथ उसके उदय की अपेक्षा समाज म अवश्य हो चली थी। राजा ऋषभ ने कर्म प्रवर्तन के अनन्तर ही धर्म प्रवतन का बीडा उठाया और वे राज्य, स्त्री पुत्र, स्वर्ण, रजत आदि को छोडकर इस श्रमण सस्कृति के प्रथम श्रमण बने। सुदीर्घ तप साधना से कवल्य प्राप्त कर तीर्थकर बने और अहिंसा धर्म का प्रवतन किया। उसके बाद काल प्रवाह के साथ साथ मनुष्य की भोगवणा समय समय पर बढ़ती रही व अहिंसा धर्म का अपवतन होता रहा पर एक के बाद एक होने वाले तीर्थकर उसे उद्वतन देते रहे। यह है अहिंसा के निमेष और उन्मेष की जनी गाथा।

वदिक सस्कृति और श्रमण सस्कृति

जन धारणा के अनुसार वदिक सस्कृति भी श्रमण सस्कृति से बहुत दूर की वस्तु नही रही है। ऋषभनाथ स्वामी के युग म ही भरत चक्रवर्ती ने उनकी वाणी का चार वेदों के रूप म सकलन किया और उसने ही ज्ञान, दशन और चारित्र के प्रतीक यज्ञोपवीत का प्रवतन किया।[1] वे वेद बहुत वर्षों तक श्रमण सस्कृति के

---

१ ज्ञानदर्शनचारित्रलिङ्गं रेखात्रय नृप।
यकक्ष्यामिव काकिण्या विदधे शुद्धिलक्षणम॥
अद्धवर्षेऽद्धवर्षे च परीक्षां चक्रिरे नवा।
श्रावका काकिणीरत्नेनाऽऽलम्बयन्त तथव हि॥
तल्लांछना भोजन ते, लभिरऽस्याऽपठन्निदम्।
जितो भवानित्याद्युच्च र्माहनास्ते ततोऽभवन॥
निजापत्यरूपाणि साधुभ्यो ददिरे च ते।
तन्मध्यात स्वेच्छया कश्चिद विरक्तव्रतमाददे॥
परीषहासहे कश्चिच्छ्रावकत्वमुपाददे।
तयव बुभुजे तच्च, काकिणीरत्नलांछित॥
भूभुजा दत्तमित्येभ्यो, लोकोऽपि श्रद्धया ददौ।
पूजित पूजितो यस्मात केन केन न पूज्यते?
अहत्स्तुतिमुनिश्राद्धसामाचारीपवित्रितान।
आर्यान् वेदान् व्यधाच्चक्री तेषां स्वाध्यायहेतवे॥
क्रमेण माहनास्ते तु ब्राह्मणा इति विश्रुता।
काकिणीरत्नलेखास्तु, प्रापुयज्ञोपवीतताम॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् पव १ सर्ग ६ श्लोक २४१ से २४८

आधार प य रहे। धीरे धीरे रूपान्तर पाते हुए एक स्वतन्त्र संस्कृति के आदि शास्त्र बन गए[1] और दोनों परम्पराओं की हिंसा और अहिंसा की व्याख्याओं में बहुत बड़ा अन्तर आ गया। सम्भव है, इन पौराणिक उदन्तो में अधिक यथार्थता न हो पर जबकि आज हम उस युग की यथार्थताओं को खोजने सुमेरियन[2] और बाविलोनियन[3] सभ्यता के पुरावशेषों हैं और उनके आधार पर अपनी कल्पनाएं जोड़ते हैं तो यह उचित नहीं कि भारतीय परम्पराओं में मिलनेवाले तथा प्रकार के उदन्तों को केवल पौराणिक कल्पनाएं कहकर यों ही छोड़ दें। हो सकता है उन अभिमत कल्पनाओं के नीचे भी कोई यथार्थ आधार निकल आए और हमें किसी वास्तविकता तक पहुंचने के लिए वह एक ऐतिहासिक तथ्य बन जाए।

ऐतिहासिक दृष्टि

आर्यों का आगमन

मैक्समूलर तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों की गवेषणाओं ने यह तो सर्वसम्मत

---

१ वेदान्वाहृस्तुतियतिश्राद्धयममयास्तदा।
पश्चादनार्या सुलसायाज्ञवल्क्यादिभि कृता ॥२५६॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम पर्व १ सर्ग ६

२ Some hold that they (people of Indus civilization) were the same as the Sumerians, while others hold that they were Dravidians Some again b lieve that these two were identical According to this view the Dravidians at one time inhabited the whole of India including the Punjab, Sind and Baluchistan and gradually migrated to Mesopotamia The fact that the Dravidian language is still spoken by the Brahui people of Baluchistan is taken to lend strength to this view —Ancient India (An Advanced History of India Part I) by Majumdar, Ray Chaudary and K K Dutta p 65

३ वदिक संस्कृति की उत्पत्ति बाबिलोनियन संस्कृति से हुई है। मेरा यह पूर्ण विश्वास है बाबिलोनियन भाषाओं का अच्छी तरह अध्ययन किए बिना बहुत-सी वदिक ऋचाओं का वास्तविक अर्थ समझ में नहीं आएगा। इन्द्र की पूजा सोमपान विधि आदि को जड़ बाबिलोनियन संस्कृति में ही है।
—भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृष्ठ ५१, पूर्ण विवेचन पृष्ठ १ से ५१

रूप से प्रमाणित कर ही दिया है कि किसी युग में उत्तरी क्षेत्रों से बहुत बड़ी संख्या में आर्य लोग भारतवर्ष में आए। उन लोगों की एक व्यवस्थित सभ्यता थी। यहाँ के आदिवासी लोगों को उन्होंने सामाजिक राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में परास्त किया और उत्तर से दक्षिण तक समग्र देश में अपनी संस्कृति का प्रभाव बढ़ाया। यह वही सभ्यता है जिसे लोग वैदिक सभ्यता के नाम से अभिहित करते हैं।

प्राग आर्य सभ्यता

इस गवेषणा के साथ अब तक यह तथ्य भी जुड़ा हुआ था कि आर्यों के आगमन से पूर्व इस भारतवर्ष में कोई समुन्नत सभ्यता या संस्कृति नहीं थी। जैन और बौद्ध परम्पराएँ भी इसी संस्कृति की उत्क्रान्तियाँ मात्र हैं। इन दिनों में जिस प्रकार इतिहास एक करवट ले रहा है उससे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आर्यों के आगमन से पूर्व यहाँ एक समुन्नत संस्कृति और सभ्यता विद्यमान थी।[1] वह संस्कृति अहिंसा सत्य और त्याग पर आधारित थी। यहाँ तक कि उस संस्कृति में पले-पुसे लोग अपने सामाजिक राजनैतिक व धार्मिक हितों के संरक्षण के लिए भी युद्ध करना पसन्द नहीं करते थे। अहिंसा उनके जीवन-व्यवहार का प्रमुख अंग थी।[2]

---

१ Be that as it may there is not the least doubt that we can no longer accept the view now generally held that Vedic Civilization is the sole foundation of all subsequent civiliza tions in India That the Indus Valley Civilization describ d above has been a very important contributory factor to the growth and developm nt of civilization in this country admits of no doubt

—Ancient India (An Ancient History of India—Part 1) by Majumdar, Ray Chaudary and K K Dutta p 23

२ That this ideal of Ahimsa or non violence was the basic principle of Pre Aryan civilization in India is known to the scholars who carefully studied the Indus Valley Civiliza tion as revealed by the excavations of Mohen jo-daro and Harappa There to the great surprise of the experts, they count no weapons for the purpose of offence and defence

भौतिक विकास की दिशा में भी वे लोग प्रगति के शिखर पर थे। उनके आवास उनके ग्राम और उनके नगर बहुत व्यवस्थित थे और हाथी व घोड़ों की सवारी भी वे करते थे। उनके पास गमनागमन के यान भी थे।[1] यहां तक कि उनमें भक्ति[2] और पुनर्जन्म के विचारों का भी विकास था।

त्रिमुख मूर्ति

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से मिलने वाले पुरातत्त्वावशेष उपरोक्त धारणाओं के आधार बनते हैं। इन अवशेषों में एक योगासन स्थित त्रिमुख योगी की प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। उस मूर्ति के सम्मुख हाथी, व्याघ्र, महिष और मृग आदि पशु स्थित[3] हैं। इस मूर्ति के विषय में विद्वानों द्वारा नाना कल्प

From the absence of destructive implements the experts have come to the conclusion that the people of the Indus Valley Civilization did not interest themselves in waging wars with anybody Subtained by their high culture and civilization, they somehow carried on their affairs—social political and religious without involving themselves in any wars

—The Religion of Ahimsa by Prof A Chakravarti, M A.p 17

१ The people cultivated fields of grain, raised cattle tammed the horse, harnessed the bullock to two wheeled carts, and taught the elephant to carry burdens

—Mohen jo daro and the Indus Civilization (1931) Vol 1 pp 93 5

२ Indication of the existence of the Bhakti-cult and even of some philosophical doctrines like Matempsychosis, have also been found at Mohen jo-daro

—Ancient India (An Ancient History of India—part I) by Majmdar Ray Chaudary and K K Dutta p 21

३ He has a deer throne and has the elephant the tiger, the rhinoceros and the buffalo grouped round him

—Mohon jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol 1,pp 52 3

नाए की गई हैं। बहुतों का कहना है—यह पशुपति शिव की मूर्ति है[1]। यह भी सोचा गया है कि योगसूत्र— अहिंसा प्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैरत्याग के सूचक किसा पहुंच हुए योगी की मूर्ति है।[2]

शिव या शान्ति जिन ?

त्रिमुख मूर्ति के अवलोकन से महत् प्रतिमाओं से अभिन्न व्यक्ति के मन में यह कल्पना भी सहज रूप से होती है कि समवसरण स्थित चतुर्मुख तीर्थंकर का ही वह कोई शिल्प चित्रण है। उसकी बनावट के साथ एक मुख का अदृश्य होना स्वाभाविक है। यह विशेषता तो तीर्थंकरों की स्वयं सिद्ध है ही कि उनके सान्निध्य में व्याघ्र गज मृग आदि नित्य विरोधी पशु भी मैत्रीपूर्वक बैठते हैं। मृग की अवस्थिति ठीक वैसे ही है जैसे वर्तमान युग में शान्तिनाथ प्रभु की मूर्तियों में हुआ करती है। मृग सोलहवें तीर्थंकर का लाञ्छन भी है। यह कल्पना इसलिए की जा सकती है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाइयों में कुछ अन्य मूर्तियां तथा मुद्राएं उपलब्ध हुई हैं जिनमें जैन तीर्थंकर और जैन संस्कृति का आभास मिलता है ऐसा विद्वानों का अभिमत है।[3]

त्रिमुख मूर्ति के विषय में उपर्युक्त कल्पना एकाएक भले ही कुछ दूर की लगे

---

१ Amomg the relics of a religious character found at Mohen jo-daro are not only figurines of the mother goddess but also figures of a male god who is the prototype of the historic Siva

—Mohen jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol I, pp 52 3

२ This reminds us of the famous Yogadarsana aphorism which lays down that in the presence of a yogin established in ahimsa (non violence) even the ferocious animals give up their inherent mutual animosity

—Ahimsa in Indian Culture

by Dr Nathimal Tantia M A, D Litt

३ Kamta Prasad Jain in his paper in the Voice of Ahimsa, Tirthankara Risabhadeva Special Number, vol VII No 3 4 March Apr 1957 pp 152 6

पर उस सम्बन्ध से शिव की कल्पना करने में भी विद्वान् पूरा निर्वाह नहीं कर पा रहे हैं। उनका कहना है[1] तीन नेत्रों के स्थान पर तीन मुख हो सकते हैं और त्रिशूल के द्योतक मूर्ति में दिखलाए गए दो सींग हो सकते हैं। सचमुच ही यह कल्पना बहुत ही लचीली और खींचातान की सी है। कुछ भी हो त्रिमुख मूर्ति से इतना तो निर्विवाद है ही कि आर्यों के आगमन से पूर्व उस प्रदेश में ध्यान और मुनित्व का अस्तित्व वर्तमान था।

प्राग्आर्य वंश

सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रा०ए० चक्रवर्ती का कहना है[2] "ऐसा कहा जाता है, भग

---

१ On one particular seal he seems to be represented as seated in the yoga posture surrouned by animals He has three visible faces, and two horns on two sides of a tall head dress As is well known Siva is regarded as a Mahayogin, and is styled Pasupati or the lord of beasts his chief attributes being three eyes and the Trisula Now the apparent yoga posture of the figure in Mohen jo-daro justifies the epithet Mahayogin, and the figures of animals round him explain the epithet Pasupati The three faces of the figure may not be unconnected with the later conception of three eyes, and the two horns with the tall head-dress might have easily given rise to the conception of a trident (Trisula), with three prongs —Ancient India (An Advanced History of India–Part I by Majumdar Ray Chaudary and K. K Dutta p 20

२ Lord Rishabha himself is said to have been a Vidyadhara emperor in one of his previous births He is said to be of Ekshvaku clan. Most of the Thirthankars were from this Ekshvaku clan. Even Goutama Sakhya Muni Budha, contemporary of Mahavira belong to this Ekshvaku clan. Rama considered to be an Avathara Purusha also belongs to this Ekshvaku clan. From these it is clear that the Ekshvaku dynasty was occupying a place of honour in ancient India

वान् ऋषभ इक्ष्वाकु वश के थे। अय अधिकाश तीथकर भी इसी वश के थे। भग वान् श्री महावीर के समकालीन शाक्य मुनि गौतम बुद्ध भी इसी इक्ष्वाकु वश के थे। अवतार पुरुष माने जाने वाल राम भी इक्ष्वाकु वश के थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत म इक्ष्वाकु वश का एक सम्मानित स्थान था। बहुत सम्भव है इक्ष्वाकु लोग प्रागाय थे क्योंकि वदिक सहिताओं म उन्हें उस देश के प्राचीन लोगों म से माना है। यद्यपि भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकु वश के थ

Probably they were also pre Aryan because they are spoken of in the Vedic Sanhitas as a very ancient p ople of the land Though Lord Rishabha belong to this Ekshvaku clan he married a Vidyadhara princ ss Therefore his queen and mother of Bharata the first emp ror of the land was from a Vidyadhara clan From this it may be inferred that the Ekshvaku dynasty and the Vidyadharas were living in the pre Aryan period and maintain d fri ndly relation as is evidenced by matrimonial alliance

One other pre Aryan clan in India must b noticed here People belonging to Hari Vamsa lived in the western most part of the land Sri Krishna and Lord Arishta Nemi, both belong to this Hari Vamsa Rulers belonging to this clan are also famous as the defenders of non violent faith From this cursory survey of the history of the past it is clear this Ahimsa faith was prevalent in the land championed by the ruling families even before the advent of Aryans and probably it was the State religion in various parts of the country The pre Aryan Vidyadharas who were responsible for the pre Aryan civilization and culture are assumed to be the ancestors of the Dravidians If this assumption of the oriental scholars is accepted, then we have to conclude that it is Ahimsa faith or non violent cult whch was the foundation of the ancient Dravidian culture and civilization

—The Religion of Ahimsa, pp 37 38

तथापि एक विद्याधर राजकन्या से भी उन्होंने विवाह किया था। इसलिए उनकी रानी और देश के प्रथम चक्रवर्ती की माता विद्याधर वंश की थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि इक्ष्वाकु और विद्याधर प्राग्–आर्यकाल में यहां रहते थे और उनमें मैत्री सम्बन्ध था जो उक्त विवाह प्रसंग से जाना जाता है।

एक और प्रागार्य वंश पर भी हमें यहां ध्यान देना चाहिए। हरिवंश के लोग देश के पश्चिम भाग में रहने वाले थे। श्रीकृष्ण और भगवान अरिष्टनेमि दोनों हरिवंश के थे। इस वंश के राजा अहिंसा धर्म के रक्षक होने के रूप में सुविख्यात हैं। इतिहास के इस सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों के आने से पहले भी अहिंसा धर्म इस देश में व्यापक था और वह राज-परिवारों के द्वारा समादृत था। सम्भव तो यह भी है कि वह देश के बहुत सारे भागों में राजधर्म भी था। प्रागार्य विद्याधर जो कि प्रागार्य सभ्यता और संस्कृति के मूल पुरुष थे द्राविड़ लोगों के पूर्वज माने जाते हैं। यदि पुरातत्त्व-गवेषक विद्वानों की यह मान्यता स्वीकार हो जाती है तो इस निश्चय पर पहुंच ही जाते हैं कि यह अहिंसा धर्म ही है, जो प्राचीन द्राविड़ संस्कृति और सभ्यता का आधार था।

डा० ए० सी० सेन एम० ए० एल एल० बी०, पी-एच० डी० (हैम्बुर्ग) का भी अभिमत है[1]—बुद्ध और महावीर के विचार वैदिक संस्कृति से स्वतन्त्र रूप में विकसित हुए हैं और यह बहुत सम्भव है कि इनमें से बहुत सारे विचारों का प्रारम्भ प्राचीन प्रागार्य और प्राग् वैदिक युग में हो चुका था।

नवागत संस्कृति और श्रीकृष्ण

इतिहास और अनुसन्धान के क्षेत्र में यह तो निर्विवाद है ही कि आर्य-संस्कृति लोकैषणा प्रधान थी। आत्मा, पुनर्जन्म मोक्ष अहिंसा सत्य तथा त्याग जैसी मान्यताएं उसमें नहीं थी। विभिन्न देवों की हिंसा प्रधान यज्ञों से उपासना करना और अपनी भौतिक इष्ट मांगना उस संस्कृति का प्रमुख स्वरूप था।[2] अहिंसा मूलक और तप प्रधान श्रमण संस्कृति जैसा कि बताया गया, इस ब्राह्मण संस्कृति के आगमन से पूर्व यहां वर्तमान थी। दोनों संस्कृतियों का यह मेल बहुत ही संघर्षात्मक रहा है। एक दूसरे के प्रभाव को न्यून या समाप्त कर देने के लिए नाना उपक्रम चलते रहे हैं। वासुदेव कृष्ण को यह नवागत संस्कृति मान्य नहीं थी। वासुदेव कृष्ण और आर्यों के अधिनायक इन्द्र के बीच ज्वलन्त संघर्ष रहे हैं।[3]

---

१ Elements of Jainism, p 2

२ *भारतीय संस्कृति और अहिंसा के आधार से*

३ क भगवान बुद्ध पृ० २६ ख ऋग्वेद ८ ९६ १३–१५

घोर आंगिरस अर्थात नेमिनाथ

उपनिषदों के अनुसार श्रीकृष्ण घोर आंगिरस ऋषि के अनुयायी थे। घोर आंगिरस ने वासुदेव कृष्ण को आत्म-यज्ञ की शिक्षा दी थी। उस यज्ञ की दक्षिणा तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव अहिंसा तथा सत्य वचन रूप थी।[1]

धर्मानन्द कौशाम्बी का कहना है—जैन ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर इस बात का उल्लेख है कि कृष्ण का गुरु (भाई) नेमिनाथ नाम का जैन तीर्थंकर था। इससे वह और घोर आंगिरस के एक ही व्यक्ति होने का सन्देह होता है।[2]

महावीर और बुद्ध की अहिंसा का मूल उद्गम

इतिहास ज्यों-ज्यों स्पष्ट होता जा रहा है बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि प्रभु भी कुछ एक विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक पुरुष माने जाने लगे हैं।[3] तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ प्रभु तो ऐतिहासिक पुरुषों की कोटि में आ ही चुके हैं। अहिंसा के इतिहास में उनके चातुर्याम[4] धर्म का अध्याय अपूर्व कोटि का माना जाता है। यह भी अब निर्विवाद-सा होता जा रहा है कि भगवान् श्री महावीर और भगवान् बुद्ध की सुविकसित अहिंसा का मूल उद्गम पार्श्व प्रभु का चातुर्याम धर्म ही है।[5] भगवान् श्री महावीर ऐतिहासिक पुरुष हैं और यह माना जाता है कि अहिंसा का सर्वांगीण विवेचन और सर्वांगीण विकास उनके युग में हुआ है।

अनार्य और आर्य संस्कृति में विनिमय

ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार वैदिक संस्कृति में पहले पहल पुनर्जन्म अहिंसा आदि के विचार नहीं थे पर सहस्रों वर्षों के द्वन्द्व में दोनों संस्कृतियों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। संघर्ष की स्थिति में भी दो सभ्यताएं एक दूसरे से बहुत कुछ ले लेती हैं। आर्यों के द्वारा परास्त आदिवासियों को किसी न

---

१ अत यत् तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा।
—छान्दोग्य उपनिषद् ३ १७ ४

२ भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृ० ५७

३ The Religion of Ahimsa p 14

४ सव्वातो पाणातिवातियाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ वेरमणं सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वातो बहिद्धादाणाओ वेरमणं।
—ठाणांग सूत्र ठा० ४

५ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म पृ० २८ २९

किसी रूप में वहां की प्राग आर्य-संस्कृति न माना और आत्मा, पुनर्जन्म मोक्ष आदि अध्यात्म विचारों को आर्य संस्कृति ने अपनाया। यही कारण हो सकता है कि ऋषभ[1], अरिष्टनेमि[2] आदि अनेक जैन तीर्थकरों को वैदिक मन्त्रों में भी प्रणाम किया जाता मिलता है। दोनों संस्कृतियां नाना भेदों और नाना अभेदों का संयुक्त रूप बनकर जी रही हैं। वैदिक परम्परा में उपनिषद् सन्दोह में आत्मवाद और अहिंसा का पर्याप्त विकास मिलता है। वहां हिंसात्मक यज्ञ अहिंसा की राह पकड़ लेते हैं, सांसारिक भोगोपभोग की कामनाएं हेय हो जाती हैं। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से पूछती है—यदि यह सारी पृथ्वी धन से भर जाए तो क्या मैं उस धन से अमृत बन जाऊंगी? याज्ञवल्क्य कहते हैं—नहीं धन से अमृत प्राप्य नहीं है। मैत्रेयी की भावना में अमृत ही उपादेय है इसलिए वह कह देती है जिससे मैं अमृत नहीं हो पाती, उस सबसे मुझे क्या[3]?

विभिन्न मतों में अहिंसा का स्वरूप

भगवान् श्री महावीर अहिंसा के अप्रतिम विवेचक रहे हैं। यही कारण है, जैन धर्म अहिंसा का धर्म कहा जाता है।[4] वह युग अहिंसा की पराकाष्ठा का युग माना जाता है। भगवान् श्री महावीर की अहिंसा जितनी विस्तृत थी उतनी गम्भीर भी थी। अब हमें यह देखना है, उस युग की अहिंसा का स्वरूप क्या था? वह निषेध प्रधान थी या विधि प्रधान? उसका सम्बन्ध आत्मा के उन्नयन से था या देह-पोषण से? उसका उद्देश्य श्रेयोऽवाप्ति था या लौकिक अभ्युदय?

---

१ अहोमुचं वृषभं यज्ञियानां,
विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हुवे धिय,
इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः॥
—अथर्ववेद कां० १६ ४२ ४

२ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः,
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
—सामवेद प्रपा० ६ अ० ३

३ बृहद् आरण्यक उपनिषद् २ ४ २

४ सत्य की खोज में पृ० ५७

हिंसा शब्द हननार्थक हिंसि धातु से बना है। हिंसा का अर्थ है—'असद् प्रवृत्ति या असत् प्रवृत्ति पूर्वक किसी प्राणी का प्राण-वियोजन।'[1] इसके विपरीत हिंसा न करना किसी जीव को दुःख या कष्ट न देना अहिंसा है। यह अहिंसा की व्यौत्पत्तिक व्याख्या हुई जो कि अहिंसा के नकारात्मक रूप को अभिव्यक्त करती है। अहिंसा की विविध परिभाषाओं में भी हम उसका प्रायः निषेधक रूप ही मिलता है।

भगवान् श्री महावीर कहते हैं— प्राणिमात्र के प्रति संयम अहिंसा है।[2]

भगवान् बुद्ध कहते हैं— जंगम और स्थावर प्राणियों का प्राणघात न स्वयं करे न किसी अन्य से करवाए और न किसी करने वाले का अनुमोदन करे।[3]

पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार अहिंसा का स्वरूप है— सब प्रकार से सब कालों में सब प्राणियों के प्रति अनभिद्रोह।[4]

ईश्वर गीता के अनुसार— मन वचन तथा कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को क्लेश न पहुंचाना अहिंसा है।[5]

महाभारत के अनुसार—मन वाणी और कर्म से किसी की हिंसा न करना अहिंसा है।[6]

---

१ असत्प्रवृत्त्या प्राणव्यपरोपणं हिंसा। असत्प्रवृत्तिर्वा।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका प्रकाश ७ सू० ४, ५

२ अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भूएसु संजमो।

—दस० अ० ६ गाथा ८

३ पाणे न हाने न च घातयेय, न चानुमञ्ञा हनतं परेसं।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं ये थावरा ये च तसन्ति लोके॥

—सुत्तनिपात, धम्मिक सुत्त

४ तत्र अहिंसा सर्वदा सर्वभूतेषु अनभिद्रोहः।

—पातञ्जल योगसूत्र भाष्य २ ३०

५ कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्ता, अहिंसा परमर्षिभिः॥

६ कर्मणा न नरः कुर्वन् हिंसां पार्थिवसत्तम।
वाचा च मनसा चैव ततो दुःखात् प्रमुच्यते॥
पूर्वं तु मनसा त्यक्त्वा त्यजेद् वाचाथ कर्मणा।

—अनुशासन पर्व ११६.२

शाकर भाष्य और पातञ्जल भाष्य में अहिंसा दृष्टि

लगभग सभी परिभाषाओं का हाद एक है और वह निकेवल निवृत्ति प्रधान है। लोकोपकार, सेवा, दया, करुणा के रूप मे अहिंसा का जो विधि-पक्ष आज के समाज प्रधान चिन्तन म माना जाने लगा है उसकी छाया भी उक्त परिभाषाओं मे कहीं प्रतिबिम्बित नही होती। व्याख्या-ग्रन्थों म यत्र तत्र उन लोकोपकारक प्रवृत्तियों की भव मुमुक्षा के विषय म अनहता भी स्पष्ट रूप से मिलती है। ब्रह्म सूत्र शाकर भाष्य म तत्तु समन्वयात (४) सूत्र की व्याख्या करते हुए 'ईष्ट और 'पूर्त' को दक्षिण मार्ग-गमन अर्थात् अनुपादेय कहा है।[1] वहां ईष्ट[2] शब्द से आतिथ्य आदि को और 'पूर्त[3] शब्द से वापी, कूप तडाग अन्नदान को अभिहित किया है। वर्तमान युग म जसे कि कहा जाने लगा है न मारना अहिंसा है और मरते को बचाना या उसका दुःख दूर करना दया है यह द्वय भी प्राचीन व्याख्याकारों की मान्यता म क्वचिद् ही रहा हो। पातजल योगसूत्र के भाष्यकार कहते हैं—जो अहिंसक है वही दयालु है और जो दयालु है वही अहिंसक है। अहिंसात्मक दया का ही भगवत प्राप्ति रूप फल होता है।[4] सर्वभूत मित्र भी उसे कहा गया है जो मास नहीं खाता और किसी जीव की हिंसा व घात नही करता।[5] इसका तात्पर्य यह नहीं कि अहिंसा के प्राचीन विवेचना म बचाने रूप दया का कोई उल्लेख ही नहीं है। वसे उल्लेख भी मिलते हैं पर बहुत कम। जैन पुराण साहित्य में कपोत को बचाने के लिए अपने शरीर का मास देने वाले मेघरथ राजा का वर्णन आता है। अवश्य वह एक रोमाचक घटना है पर आगमोक्त न होने के कारण वह केवल एक कहानी रह जाती है। उस कहानी के विषय म यह कह सकना भी कठिन है कि मूलत वह किस परम्परा की है और कब रची गई है। यह कहानी शिवि राजा के उपाख्यान के रूप मे महाभारत म मिलती है। बौद्ध साहित्य म भी जीमूतवाहन के नाम से कुछ प्रकारान्तर से यह कथा मिलती है। इस कथा म भी मेघरथ राजा

---

१ तथा च याज्ञाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविनाकृत्तरेण पथागमनं केवलरिष्टापूतदत्तसाधन धूमादि क्रमेण दक्षिणन पथा गमनम।

२ अग्निहोत्र तप सत्य वेदना चानुपालने।
आतिथ्य वैश्वदेव च इष्टमित्यभिधीयते॥

३ वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमाराम पूर्तमित्यभिधीयते॥

४ पातंजल योगदर्शन भाष्य—साधनपाद सूत्र ३५

५ पातजल योगदर्शन भाष्य—साधनपाद सूत्र ३५

न बाज का वध कर कबूतर का बचाने की बात नही सोची, जबकि एक या अनेक जीवों का वध कर दूसरे जीवों को बचा लेना भी लोग अहिंसा व धर्मगत मानने लगे हैं।

योगदर्शन मे करुणा

योगदर्शनोक्त करुणा भावना[1] का ज्ञान भी समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। तत्त्वार्थ सूत्र[2] और विशुद्धिमार्ग[3] म भी मैत्री आदि इन्हीं चार भावनाओं का उल्लेख है। योगदर्शन भाष्यकार ने दुःखी प्राणी के प्रति दुःखजिहीर्षा की भावना से परोपकार चिकीर्षा-कालुष्य मल स चित्त का निवृत्त होना बतलाया है।[4] महर्षि पतञ्जलि की दृष्टि म अविद्या अस्मिता राग द्वष अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं[5], दुःखानुशायी[6] द्वष है और द्वषमूलक अभिनिवेश है अत यही करुणाहीन की दुःख जिहीर्षा है और यह नितान्त अहिंसात्मक है। दहिक दुःखप्रतिकार बहुधा रागानुशायी हो जाता है अत वह चित्त मलों का निवारक नहीं हो सकता। श्री के० सी० भट्टाचार्य कहते हैं—करुणा का तात्पर्य है दर्द और द्वष से पीड़ित लोगों के प्रति समुद्भूत तन्मयता को दूर करना। दूसरो के दुःख को अपने दुःख के समान अनुभव करने से स्वयं द्वष या दुःख के भय से दूर हो सकता है।[7]

---

१ मत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्

—योगदर्शन १।३३

२ मत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु।

—तत्त्वार्थ सूत्र ७।६

३ विशुद्धिमग्ग, ब्रह्म विहार निद्देस ६

४ दुःखितप्रियेषु दुःखितेषु रजोऽन्यमात्राविनेतेषु करुणां स्वस्मिन्निव परत्र दुःख प्रहाणाभिलाषां भावयतः पुरुषाय परापकारचिकीर्षाकालुष्यं निवर्तते चित्तस्य।

—योगदर्शन भाष्य पाद १ सूत्र ३३

५ अविद्यास्मितारागद्वषाभिनिवेशाः क्लेशाः।

—योगदर्शन २।३

६ दुःखानुशयी द्वेष।

—योगदर्शन २।८

७ Studies in Philosophy Vol 1, p 307

दु खापनयन अर्थात आत्मोन्नयन

दु खी के आत्मिक दु खो के निवारण मे ही अयोयाश्रित चार भावनाए विशुद्ध रह सकती हैं। दहिक दु ख मोचन म हिंसा, राग, असयम-पोषण आदि दोषो के कारण चारा भावनाआ की सुरक्षा सम्भावित नहीं रह जाती। आचाय बुद्धघोष एक रोचक उदाहरण के साथ विश्लेषण करत हैं—किसी स्थान पर जिसने मैत्री भावना सिद्ध करली है, एसा साधक बठा है। वहीं उसका बुरा चाहने वाला एक शत्रु उसका हित चाहने वाला एक मित्र तथा एक तटस्थ, ये तीन व्यक्ति बठे हैं। एक आततायी आया और बोला—चारो मे से किसी एक को मुझ अवश्य मारना है। ऐसी परिस्थिति म वह साधक क्या सोचे ? यह तो वह सोच ही कसे सकता है कि इन तीनो म से किसी एक को वह ले जाए। साथ-साथ वह यह भी न सोचे कि वधक मुझे हा ले जाए, जिसम तीनो के प्राण बच जाए। ऐसा सोचने से मत्री विरोधी पक्षपात का आपात होता है।[1] यह बात आचार्य बुद्धघोष ने मत्री भावना के परीक्षण मे कही है। यदि इसे करुणा भावना की कसौटी बनाई जाए तो भी फलिताथ वही होगा। दु खापनयन की बात आत्मोन्नयन से ही जुडी रह सकती है। उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने अपने भावना ग्रथ शान्तसुधारस' में इस यथाथता को और भी स्पष्ट कर दिया है। वे करुणा भावना के प्रसग में कहते हैं—जो हितोपदेश का श्रवण नहीं करते धम का स्मरण नहीं करते, उनके रोग कसे दूर किए जा सकते हैं ? क्योकि रोगापनयन का तो एकमात्र मार्ग धम ही है।[2] हे आत्मन्! इस भव कान्तार मे अपार व्याधि समूह को क्यो सहता है ? जगदुपकारक जिनेश्वर का अनुसरण कर। वे ही रोगापहारक वध है।[3]

---

१ विसुद्धिमग्ग, ब्रह्म विहार निद्देस ६

२ श्रृण्वन्ति ये नव हितोपदेशं, न धमलवं मनसा स्मरन्ति।
रुजः कथङ्कारमथापनेया, स्तेषामुपायस्त्वयमेक एव ॥
—शान्तसुधारसभावना गीतिका १५ श्लोक ६

३ सहात इह कि भवकान्तारे गदनिकुरम्बमपारम्।
अनुसरताऽऽहितजगदुपकारं, जिनपतिमगदङ्कारम् ॥
—शान्तसुधारसभावना गीतिका १५ श्लोक ७

भगवान् श्री महावीर

निरामिषता और अहिंसात्मक यज्ञ

गवेषकों की दृष्टि में यह विषय अत्यन्त निर्विवाद हो गया है कि भारतीय अहिंसा चिन्तन में जैन धर्म का अद्वितीय अनुदान रहा है। २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु विवाह प्रसंग पर होने वाले पशु वध से अनुकम्पित होकर सदा के लिए विवाह से ही मुंह मोड़ लेते हैं।[1] २३वें तीर्थंकर पार्श्व प्रभु पंचाग्नि जैसी हिंसा प्रधान तपस्याओं का रहस्योद्घाटन अपनी कुमारावस्था में ही कर देते हैं।[2] भगवान् श्री महावीर हिंसात्मक यज्ञों का विरोध करते हैं और अहिंसा तप आदि रूप यज्ञों का निरूपण करते हैं।[3] भारतीय अहिंसक समाज आज उनका कृतज्ञ है यह मान कर कि उक्त तीर्थंकरों ने निरामिषता, अवाहिक अनारम्भता, अहिंसात्मक तप साधना और अहिंसात्मक आत्म यज्ञ की विधि उसे सिखलाई।

अहिंसा का उग्र निरूपण और सूक्ष्म समीक्षा

भगवान् श्री महावीर अहिंसा के जितने उग्र निरूपक थे, उतने सूक्ष्म समीक्षक भी। उनकी अहिंसा के हार्द को पा लेना सहज नहीं है। एक ओर शास्त्रकार निःसंकोच भाव से कहते हैं—भगवान् ने समस्त जगत् के जीवों की रक्षात्मक दया के लिए प्रवचन कहा।[4] दूसरी ओर भगवान् कहते हैं—किसी राह भूले गृही को साधु मार्ग बताए तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।[5] मार्गस्थित साधु किसी छिद्र से अग्र प्रवेश

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २२

२ पार्श्वचरित्र

३ तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया, सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥
—उत्तराध्ययन सूत्र १२ ४४

४ इमं च णं सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।
—प्रश्नव्याकरण सूत्र संवरद्वार

५ जे भिक्खू अण्ण उत्थियाण वा गारत्थियाण वा णट्ठाणं मूढाणं विप्परियासियाणं मग्गं वा पवेएइ, संधिं पवेएइ, मग्गाओ वा संधिं पवेएइ संधीओ वा मग्गं पवेएइ, पवेयंतं वा साइज्जइ।
—निशीथसूत्र उद्देशक १३ बो २८

देखकर नावास्थित अन्य जनों से कहे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।[1] अनुकम्पावश किसी त्रस प्राणी को बन्धन मुक्त व बन्धन युक्त करे या करने का अनुमोदन करे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।[2] नमि राजर्षि कहते हैं—मैं मिथिला की ओर आंख उठाकर क्यों देखूं? मैं तो सुख से बसता हूं, सुख से जीता हूं मिथिला के जलने से मेरा अपना कुछ भी नहीं जल रहा है।[3] चुलनीपिता श्रावक पौषध व्रत में अपने ही सामने किसी अनार्य पुरुष के द्वारा अपने तीन पुत्रों को मारे जाते देखता है, बचाने के लिए उठता नहीं तब तक उसका पौषध व्रत अखण्ड है। ज्यों ही वह अपनी माता को बचाने के लिए उठता है उसके नियम व्रत पौषध आदि भंग हो जाते हैं।[4] नन्दन मणिहारा लोक-सुख के लिए उद्यान बनाता है। मरण

---

१ से भिक्खू वा (२) णावाए उत्तिंगेण उदय आसवमाणं पेहाए उवरुवरिं णावं कज्जलावेमाणं पेहाए णो परं उवसंकमित्तु एवं बूया आउसंतो गाहावइ एयं ते णावाए उदयं उत्तिंगेण आसवति उवरुवरिं वा णावा कज्जलावेति एतप्पगारं मणं वा वायं वा णो पुरओ कट्टु विहरेज्जा अप्पुस्सुए अबहिलेसे एगंति गएण अप्पाणं वियोसज्ज समाहीए। तओ सजयामेव णावा संतारिमे उदए आहारियं रियेज्जा।

—आचारांग सूत्र श्रु० २ अ० ३ उ० १

२ जे भिक्खू कोलुण पडियाए अण्णयरिय तस पाण जाय तेण पासएण वा मुंजपासएण वा कट्ठपासएण वा चम्मपासएण वा वेत्तपासएण वा रज्जुपासएण वा सुत्तपासएण वा बधइ बधतं वा साइज्जइ।
जे भिक्खू बधेल्लय वा मुयइ मुयतं वा साइज्जइ।

—निशीथ सूत्र उद्देशक १२ बोल १ २

३ सुहं वसामो जीवामो जेसिं मे नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण।
चत्त पुत्त कलत्तस्स निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जइ किंचि अप्पियं पि न विज्जइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ६ गाथा १४ १५

४ तेण तुमं इदाणिं भग्ग वए, भग्ग नियमे, भग्ग पोसहोववासे विहरसि, तेण तुमं पुत्ता! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पायच्छित्त पडिवज्जाहि॥१७॥
तए णं चुलणी पिया समणोवासए अम्मगाए भद्दाए सत्थवाहीणिए तहत्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणइ पडिसुणइत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ॥ १८॥

—उपासकदशाङ्ग सूत्र अ० ३

काल म पोडग रोगों से आतक्ति होता है और वहां से मरकर स्व निर्मापित पुष्करिणी म ही म्दु र-योनि म उत्पन्न होता है।[1]

दानपरक करुणा

दान भी करुणा का एक अग है अत उस सम्बध से भी भगवान् श्री महावीर के निरूपण को आगमिक सन्दर्भों म देख लेना उचित है। गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर म भगवान श्री महावीर कहते हैं—तथारूप पाप-कम का प्रत्याख्यान न करने वाले असयति अव्रती को प्रासुक अप्रासुक एपणीय अनपणीय आहार, पानी आदि देने वाला श्रमणोपासक एकात पाप कम का उपाजन करता है जरा भी निजरा धम नहीं करता।[2] जो साधु अन्यतीर्थी व गृहस्थ को चतुविध आहार का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[3] इसी प्रकार जो साधु अन्यतीर्थी या गहस्थ को वस्त्र पात्र कम्बल, पादप्रमाजन का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[4]

आनन्द श्रावक ने भगवान् श्री महावीर के सम्मुख श्रावक के बारह व्रत

---

१ ततेण णन्दे तेहिं सोलसेहिं रोयायकेहिं अभिभूए समाण णंदाए पुक्ख रिणि ए मच्छित्ते ४ तिरिक्ख जोणिएहिं बद्धण बद्धपए सिए अट्ट दुहट्ट वसट्ठ काल मासे काल किच्चा णदा पोक्खरिणीय दद्दु रीए कुच्छिसि दद्दुरत्ताए उववण्ण ॥२६॥

—ज्ञाताधमकथाङ्ग सूत्र अ० १३

२ समणोवासगस्सण भते ? तहारूव असजय अविरय, अपडिहय अपच्चक्खाय पावकम्मे फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण पाण जाव किं कज्जइ। गोयमा! एगत सो से पावे कम्मे कज्जइ नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ।

—भगवती सूत्र शतक ८ उ० ६

३ जे भिक्खू अण्ण उत्थियएण वा गारत्थियएण वा असणं वा ४ देयइ देयत वा साइज्जइ ॥

—निशीथ सूत्र उद्देशक १५ बो० ७८

४ जे भिक्खू अण्ण उत्थियएण वा गारत्थियएण वा वत्थ वा पडिग्गह वा कबल वा पायपच्छण वा देयइ देय त वा साइज्जइ ॥७६॥

—निशीथ सूत्र उद्देशक १५ बो० ७६

स्वीकार किए। तदनन्तर उसने अभिग्रह धारण किया भगवन्! आज से मैं अन्य तीर्थी, अन्यतीर्थियों के देव अन्यतीर्थ में गए आर्हत भिक्षुओं को आहार, पानी आदि न दूंगा, न दिलाऊंगा। इस व्रत में मेरे छः आगार होंगे—१ राजा का आदेश, २ गण का आदेश, ३ बलवान का आदेश, ४ देवता का आदेश, ५ कुल ज्येष्ठ का आदेश, ६ अटवी आदि विशेष परिस्थिति।[1]

सकडाल पुत्र भगवान् श्री महावीर का श्रावक बना। अपने चिरंतन गुरु गोशालक के घर आने पर उसने जरा भी आवभगत नहीं की। गोशालक द्वारा भगवान् श्री महावीर की प्रशंसा किए जाने पर उसने उसे पीठ फलक, शय्या आदि दिए और कहा—मेरे धर्माचार्य की प्रशंसा की इसलिए मैं यह सब दे रहा हूं न कि धर्म और तप मान कर।[2]

जगज्जीव रक्षा का स्वरूप

एक ओर समस्त जीवों की रक्षा के लिए प्रवचन करना और एक ओर किसी राह भूले को मार्ग न बताना साधु स्वयं और अनेकों जीव डूबे जा रहे हैं, उस स्थिति में नौका का छिद्र न बताना, अनुकम्पावश किसी प्राणी को न पाश मुक्त करना

---

१ तएणं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ २ त्ता समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—णो खलु मे भंते! कप्पइ अज्जप्पभिइं अण्णउत्थिए वा अण्णउत्थिय देवयाणि वा अण्णउत्थिय परिग्गहियाणि वा अरिहंत चेइयाणि १ वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पव्विं अणालवित्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा नन्नत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं, बलाभिओगेणं, देवाभिओगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्तीकंतारेणं।

—उपासकदशाङ्ग सूत्र अ० १

२ तएणं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी जम्हाणं देवाणुप्पिया! तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स संतेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेहि। तम्हाणं अहं तुब्भे पडिहारिएणं पीढ जाव संथारएणं उवनिमंतेमि नो चेवणं धम्मोति वा तवोति वा।

—उपासकदशाङ्ग सूत्र अ० ७

और न पाश युक्त करना आदि विधान सहसा यह प्रश्न उपस्थित करते हैं आखिर परम कारुणिक भगवान् श्री महावीर की वह जगज्जीव रक्षा है क्या ? साधारण कोटि का व्यक्ति भी उक्त परिस्थितियों में माग बताने, छिद्र बताने व जीवों को पाश मुक्त करने के लिए प्रेरित होगा अपना कर्तव्य समझेगा वहां छह काया के रक्षक साधु-साध्वियों के लिए यह अकरणीयपरक और असामाजिक जैसा आचार अवश्य किसी रहस्य का द्योतक है। यह हो नहीं सकता कि भगवान् श्री महावीर करुणासिंधु नहीं थे और उन्होंने जगज्जीव रक्षा के लिए प्रवचन नहीं किया। और न यह भी हो सकता है कि उनके ये जगज्जीवों के प्रति औदासिन्य प्रधान निरूपण अहिंसा करुणा और अनुकम्पा से कोई परे की बात हो। इन सबका हार्द यही है कि भगवान् श्री महावीर की जगज्जीव रक्षा का स्वरूप है— प्राणीमात्र को दुःख न देना शोक उत्पन्न न करना न रुलाना, न अश्रुपात करवाना न उन जगज्जीवों को ताड़न-तर्जन देना।[1]

सूत्रकृतांग सूत्र मोक्ष मार्ग अध्ययन में भगवान् श्री महावीर की जगज्जीव रक्षा का हार्द और भी स्पष्ट हो जाता है। जम्बूस्वामी के प्रश्न पर सुधर्मास्वामी भगवान् श्री महावीर द्वारा निरूपित मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं— पृथ्वीकाय अप्काय, तेजस्काय वायुकाय वनस्पतिकाय और त्रसकाय ये छः कायिक जीव संसार में हैं। इनके अतिरिक्त कोई जीवनिकाय नहीं है। बुद्धिमान् पुरुष इन षटकायिक जीवों को सबको दुःख अप्रिय है ऐसा सम्यक् प्रकार से समझ कर सबके प्रति अहिंसा करे। ऊर्ध्व अधो और तिर्यग् दिशा में जो भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उनकी हिंसा से निवृत्ति को ही निर्वाण कहा गया है।[2] इस

---

१ अत्थिणं भंते ! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति, हंता अत्थि। कहण्णं भंते ! साया वेयणिज्जा कम्मा कज्जंति गोयमा ! पाणाणुकंपयाए, भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकंपयाए सत्ताणुकंपयाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टण याए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति एवं नेरइया णवि जाव वेमाणियाणं।

—भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक ६

२ पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आउ जीवा तहागणी।
वाउ जीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥७॥
अहावरा तसा पाणा एवं छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जइ ॥८॥

स्वीकार किए। तदनन्तर उसने अभिग्रह धारण किया, भगवन्! आज से मैं अन्य तीर्थी, अन्यतीर्थिक देव, अन्यतीर्थ में गए अर्हत बिम्बों को आहार, पानी आदि न दूंगा, न दिलाऊंगा। इस व्रत में मेरे छह आगार होंगे—१ राजा का आदेश २ गण का आदेश ३ बलवान का आदेश ४ देवता का आदेश ५ कुल ज्येष्ठ का आदेश, ६ अटवी आदि विशेष परिस्थिति।[1]

शकडाल पुत्र भगवान् श्री महावीर का श्रावक बना। अपने चिरंतन गुरु गोशालक के घर आने पर उसने जरा भी आवभगत नहीं की। गोशालक द्वारा भगवान् श्री महावीर की प्रशंसा किए जाने पर उसने उसे पीठ फलक, शय्या आदि लिए और कहा—मेरे धर्माचार्य की प्रशंसा की इसलिए मैं यह सब दे रहा हूं न कि धर्म और तप मान कर।[2]

जगज्जीव रक्षा का स्वरूप

एक ओर समस्त जीवों की रक्षा के लिए प्रवचन करना और एक ओर किसी राह भूले को मार्ग न बताना साधु स्वयं और अनेकों जीव डूबे जा रहे हैं उस स्थिति में नावा का छिद्र न बताना, अनुकम्पावश किसी प्राणी को न पाश-मुक्त करना

---

१ तएणं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ २ त्ता समणं भगवं महावीरं वंदति नमसति वन्दित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—णो खलु मे भंते! कप्पइ अज्जप्पभिई अण्णउत्थिए वा अणउत्थिय देवयाणि वा अण उत्थिय परिग्गहियाणि वा अरिहं त चेइयाति १ वंदित्तए वा नमसित्तए वा पुव्विं अणालवित्त णं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा नन्नत्थ रायाभिओगेणं, गणाभिओगेणं, बलाभिओगेण देवाभिओगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्तीकतारेणं।

—उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० १

२ तएण से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी जम्हाणं देवाणुप्पिया! तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स संतेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भेहिं सब्भूतेहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेहिं। तम्हाणं अहं तुब्भे पडिहारिएणं पीढ जाव संथारएणं उवनिमंतेमि नो चेवणं धम्मोति वा तवोति वा।

—उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० ७

और न पाश युक्त करना आदि विधान सहसा यह प्रश्न उपस्थित करते हैं आखिर परम कारुणिक भगवान् श्री महावीर की वह जगज्जीव रक्षा है क्या? साधारण कोटि का व्यक्ति भी उक्त परिस्थितियों में मार्ग बताने, छिद्र बनाने व जीवों को पाश-मुक्त करने के लिए प्रेरित होगा अपना कर्तव्य समझेगा। वहाँ इस काया के रक्षक साधु-साध्वियों के लिए यह अव्यवहारपरक और असामाजिक जैसा आचार अवश्य किसी रहस्य का द्योतक है। यह हो नहीं सकता कि भगवान् श्री महावीर करुणासिन्धु नहीं थे और उन्होंने जगज्जीव रक्षा के लिए प्रवचन नहीं किया। और न यह भी हो सकता है कि उनके ये जगज्जीवों के प्रति मोक्षसिन्धु प्रधान निरूपण अहिंसा करुणा और अनुकम्पा से कोई परे की बात हो। इन सबका हार्द यही है कि भगवान् श्री महावीर की जगज्जीव रक्षा का स्वरूप है— प्राणीमात्र को दुःख न देना शोक उत्पन्न न करना न रुलाना न अश्रुपात करवाना न उन जगज्जीवों को ताड़न-तर्जन देना।[1]

सूत्रकृतांग सूत्र मोक्ष-मार्ग अध्ययन में भगवान् श्री महावीर की जगज्जीव रक्षा का हार्द और भी स्पष्ट हो जाता है। जम्बूस्वामी के प्रश्न पर सुधर्मास्वामी भगवान् श्री महावीर द्वारा निरूपित मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं— पृथ्वीकाय, अप्काय तेजस्काय वायुकाय वनस्पतिकाय और त्रसकाय, ये षट् कायिक जीव संसार में हैं। इनके अतिरिक्त कोई जीवनिकाय नहीं है। बुद्धिमान् पुरुष इन षट्कायिक जीवों को सबको दुःख अप्रिय है ऐसा सम्यक् प्रकार से समझ कर सबके प्रति अहिंसा करे। ऊर्ध्व अधो और तिर्यग् दिशा में जो भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उनकी हिंसा से निवृत्ति को ही निर्वाण कहा गया है।[2] इस

---

१ अत्थिणं भंते! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति? हंता अत्थि। कहण्णं भंते! साया वेयणिज्जा कम्मा कज्जंति, गोयमा! पाणाणुकंपयाए, भूयाणुकंपयाए जीवाणुकंपयाए, सत्ताणुकंपयाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टण याए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति एवं नेरइया णवि जाव वेमाणियाणं।

—भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक ६

२ पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आउ जीवा तहागणी।
वाउ जीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥७॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जइ ॥८॥

निरूपण से यह भला भांति स्पष्ट हो जाता है भगवान् श्री महावीर का मोक्ष पथ हिंसा निवृत्तिरूप अहिंसा, दया और अनुकम्पा है। इसी अध्ययन म बताया *गया है—किसी ग्राम या नगर म रह साधु को कूप-खननादि और दानशालादि करने* वाला पुरुष विनयपूर्वक पूछे—इनम धम है या नही, एसे प्रश्न का आत्मगुप्त जितेन्द्रिय साधु कुछ भी उत्तर न दे। इस प्रकार के समारम्भ म पुण्य है या पुण्य नहीं है एसा भी वह नही बोले। यह दानो प्रकार की भाषा महाभय की हेतु है। दान के लिए जा त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं उनकी रक्षा के लिए पुण्य है *ऐसा भी वह न बोले। क्योकि जा दान की प्रशसा करता है, वह प्राणियों का* वध चाहता है और जो दान का वतमान म निषध करता है, वह अनेक जीवो की आजीविका विच्छेद करता है। इस प्रकार जो साधु मयमस्थित रहता है वह निर्वाण को प्राप्त होता है।[1] उक्त उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाने के साथ कि षटकायिक जीव ही सव्व जगजीव हैं और हिसा न करना ही उनकी रक्षा रूप दया है, करुणापरक व लोकोपकारक दान के विषय म भी वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है। इन प्रसगो को केवल यह कहकर ही नही टाला जा सकता कि उक्त प्रकार के विधि विधान साधुजनो के लिए हैं गृहस्थ किसी राह भूले को माग बताता है नौका में छिद्र बताता है तो वह अनवद्य करुणा है और मोक्षाभिगमन का पथ है। उक्त विधि विधानों के पालन की अनिवार्यता भले ही साधुजनों के लिए

सव्वाहि अणुजुत्तीहि मतिम पडिलेहिया।
एव्वे अक्कतदुक्खाय, अतो सव्वे अहिंसया ॥६॥
उड्ढ अहेय तिरियं, जे केइ तस थावरा।
सव्वत्थ विरतिं विज्जा सति निव्वाण माहियं ॥११॥

१ तहागिर समारब्भ अत्थि पुन्नं ति णो वए।
अहवा नत्थि पुन्न ति एवमेयं महब्भयं ॥१७॥
दाणट्ठाय जे पाणा हम्मति तस थावरा।
तेसि सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति णो वए ॥१८॥
जसि त उवकप्पति, अन्नपाणं तहाविहं।
तेसि लाभतरायति, तम्हा णत्थित्ति णो वए ॥१९॥
जेय दानं पससति वह मिच्छंति पाणिण।
जेयण पडिसेहति, वित्तिच्छेय करति ते ॥२०॥
दुहओवि ते न भासति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।
आय रयस्स हेच्चाण, निव्वाणं पाउणति ते ॥२१॥

है यद्यपि उन्होंने एकान्त प्रायश्चित आचरण का ही व्रत ले रखा है, परन्तु सिद्धान्त निर्णय में उन विधि विधानों को भुलाया नहीं जा सकता। गृहस्थ के लिए वे आचरण यदि अनवद्य अहिंसा की कोटि में आते होते तो कोई कारण नहीं रह जाता कि मुनिजनों के लिए वे वर्ज्य न होते। एक गृहस्थ किसी मार्ग भ्रष्ट गृहस्थ को मार्ग बताकर विशुद्ध अनुकम्पा करता है और एक मुनि वही काम कर अपना चातुर्मासिक संयम खो देता है किसी भी प्रकार बुद्धिगम्य होने की बात नहीं है। गृहस्थ के लिए भी उक्त प्रकार की अनुकम्पा करने के लिए कोई विधान या निरूपण करते तो अवश्य ही उस मन्तव्य का कोई मूल्य होता, पर जैन आगमों में ऐसा नहीं है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि भगवान् महावीर की दृष्टि में उक्त प्रकार की लौकिक क्रियाओं में शुद्ध अनुकम्पा होती तो वे उनके करने में साधु-साध्वियों के लिए चातुर्मासिक प्रायश्चित का विधान न करते। किसी राह भूले को मार्ग न बताने में, नौकागत छिद्र न बताने में, दुःखित प्राणी को पाश-मुक्त न करने में चातुर्मासिक प्रायश्चित का विधान करते। पर उनकी अहिंसा और उनकी अनुकम्पा या जीव रक्षा का शुद्ध रूप नकारात्मक ही था। उनकी दृष्टि में पृथ्वी, अप् वनस्पति से लेकर मनुष्य तक सब प्राणी समान थे। एक की हिंसा कर दूसरे की रक्षा उनकी दृष्टि में अहिंसा कैसे हो सकती थी? उनकी दृष्टि में हिंसा न करना धर्म था पर किसी की जीवन-कामना करना धर्म हो, ऐसी बात नहीं थी। जीवन-कामना की उपादेयता में संयम और असंयम उनके मानदण्ड थे।

जीवन और मृत्यु की निरपेक्षता

जनसाधारण में 'जीओ और जीने दो' का नारा आज तो चल पड़ा है। अहिंसा पर बोलते समय इस उक्ति को प्राथमिकता दी जाती है और कहा जाता है, भगवान् श्री महावीर का उद्घोष था — जीओ और जीने दो। यह यथार्थ नहीं है। न तो भगवान् श्री महावीर के सूत्रों में इस उक्ति का कहीं स्थान है और न इसका भाव भी पूर्णतः उनकी प्ररूपणा के अनुकूल पड़ता है। इसमें 'जीने दो' में भी पहले जीओ की बात कही है। भगवान् श्री महावीर के निरूपण में असंयत जीवन-कामना के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अध्यात्म परायण भगवान् महावीर का तो उद्घोष इस विषय में यह रहा है— णो जीवियं णो मरणाहिकंखी अर्थात् जीवन और मरण का आकांक्षी न हो।[1] 'जीवन और मृत्यु की निरपेक्षता

१ क सूत्रकृतांगसूत्र श्रु० १ अ० १३ गाथा २३

ख सूत्रकृतांगसूत्र श्रु० १ अ० १० गाथा २४

ग सूत्रकृतांगसूत्र श्रु० १ अ० ३ उद्देशक ४ गाथा १५

ही वास्तविक अध्यात्म है। जीओ और जीने दो के उद्घोष में उसका दर्शन नहीं होता।

आत्मोपचायक जीव रक्षा

इस प्रकार भगवान् श्री महावीर की अहिंसा का बहुमुखी चिन्तन करते हुए हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि उनकी जीव रक्षा निश्चल आत्मोपचायक थी न कि देहोपचायक। प्रश्नव्याकरण सूत्र में जहां कहा गया है—समस्त जगत् के जीवों की रक्षारूप दया के लिए भगवान् श्री महावीर ने प्रवचन कहा है, उसी आगमसूत्र में कुछ ही अन्तर पर कहा जाता है—भगवान् ने सब जीवों को असत्य पिशुन परुष कटुक और चपल वचनों से बचाने के लिए अपना प्रवचन कहा है।[1] प्रस्तुत वाक्य विन्यास पूर्व प्रस्तावित वाक्य विन्यास का मानो भावार्थक अनुवाद हो गया है। सूत्रकृतांग सूत्र का सवामकिच्च णिह आरियाण यह आर्द्र कुमार-कथन भी यही अभिव्यक्त करता है। भगवान् अपने कर्म क्षय के लिए तथा अन्य लोगों को तारने के लिए धर्मोपदेश करते हैं।[2] स्थविर कल्पी साधु को आत्मानुकम्पी होने के साथ-साथ परानुकम्पी[3] भी कहा गया है। मार्ग या नौका छिद्र न बताना आदि विधानों का पालन करते हुए साधु आत्मानुकम्पी तथा परानुकम्पी इसी अपेक्षा से होता है कि वह किसी भी प्राणी का प्राण वियोजन नहीं करता, न किसी प्राणी को क्लेश उत्पन्न करता है। वह केवल पापाचारी को उपदेशादि द्वारा पाप विमुख करता है, जैसा कि केवल आत्मानुकम्पी होने के कारण जिन कल्पी साधु नहीं किया करता है।

निष्कर्ष यह होता है—अल्प या अनल्प हिंसा की भूमिका पर अहिंसा, करुणा,

---

१ इम च अलियपिसुणफरुसकडुयचवलवयणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र संवरद्वार

२ सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत० २ अ० ६ गाथा १७

३ चत्तारि पुरिस जाया पन्नत्ता तंजहा—आयाणुकम्पए नाम एगे णो परानुकम्पए।

टीका—आत्मानुकम्पकः आत्महितप्रवृत्तः प्रत्येकबुद्धो जिनकल्पिको वा परानपेक्षो निर्घृण। परानुकम्पको निष्ठितार्थतया तीर्थकर, आत्मानपेक्षो वा दयैकरसो मेतार्यवत्। उभयानुकम्पकः स्थविर कल्पिकः। उभयानुकम्पकः पापात्मा कालशौकरिकादिरिति।

—ठाणांगसूत्र ठाणा ४ उद्देशक ४ सू० ३५२

दया अनुकम्पा आदि श ग मे अभिव्यक्त होने वाले मनोभाव अनवद्य नहीं रह सकते। हिंसा पर आधारित परोपकार, दान करुणा सेवा आदि हिंसा के ही विधि पक्ष हो सकते हैं अहिंसा के नहीं।

भगवान् श्री महावीर कहते हैं—हिंसादि कायरत हिंसक सामने हो तो साधु के लिए तीन ही मार्ग हैं—वह धर्मोपदेश करे, मौन रहे या वहा से उठकर चला जाए।[1]

षष्ठगुणस्थानवर्ती और षष्ठोत्तर गुणस्थानवर्ती आत्माए सयति हैं। पचमगुण स्थानवर्ती सयतासयति हैं और शेष चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असयति हैं। जहा दो ही भेद अपेक्षित हो वहा प्राय पचमगुणस्थानवर्ती आत्माए असयति की कोटि म हैं। असयत जीवन-कामना स्वय असयम है और वह राग सम्भाव्य भी है अत वह अहिंसा का अग नहीं है।

स्व और पर की अपेक्षा में अहिंसा का विधि पक्ष

अहिंसा का विधि पक्ष स्व अपेक्षा म स्वाध्याय ध्यान कषाय विजिगीषा अहिंसा सत्य ब्रह्मचर्य का आचरण आदि रूप सत्प्रवृत्ति है। पर अपेक्षा म उक्त सत्प्रवृत्तिया में किसी प्राणी को प्रेरित करना तथा उपदेशादि द्वारा हृदय-परिवर्तन कर उसे हिंसादि दुराचरण स बचाना है। उक्त तथ्या के आधार पर ही नावा स्थित साधु का छिद्र न बताना अरण्यगत का मार्ग न बताना किसी प्राणी को अनुकम्पावश पाश मुक्त या पाश युक्त न करना आदि साध्वाचारकालीन रह सकते हैं। इन तथ्या पर ही नमि राजर्षि की म्रियमाण जीवा की उपेक्षा राग मुक्त स्थिति मानी गई है। चुलनीपिता का माता को बचाने के लिए उठना रागात्मक दया होकर पौषध भग का निमित्त बना है। तथारूप असयति, अव्रती को गृहस्थ द्वारा दिया जाने वाला दान एकान्त पाप का और सयति को दिया जाने वाला एकान्त निर्जरा का हेतु बताया गया है। इन्हीं तथ्यों पर आनन्द का अभिग्रह और शकडाल का न धम्मोत्ति वा, न तवोत्ति वा का कथन सगत होता है।

आगमिक और औपनिषदिक स्वरूप

भगवान् श्री महावीर की अहिंसा के स्वरूप को यदि हम एक ही समुल्लेख मे देखना चाहें तो वह प्रश्नव्याकरणसूत्र मे मिलता है। वहा अहिंसा के साठ एका

---

1 तओ आयरक्खा पन्नता तजहा—धम्मियाए पडिचोयणाए भवइ तुसि णीए वा सिया उट्ठित्ता वा आया एगंत मवक्कमेज्जा।

—ठाणांगसूत्र ठाणा ३ उद्देशक ४

थक नाम बन गए हैं—निर्वाण, निवृत्ति, समाधि, विरति दया, विमुक्ति, शान्ति, रक्षा, यतना, अभय अमाघात (अमरत्व) आदि।[1] यहां अधिकांश नाम निवृत्ति के सूचक हैं। इनका फलित स्वतः सिद्ध है कि हिंसा निवृत्ति अहिंसा है और दया, रक्षा आदि उसी के पर्यायवाची नाम हैं।[2] अस्तु अहिंसा के स्वरूप पर विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुंच जाते हैं कि छोटी बड़ी विभिन्नताओं में भी अहिंसा और करुणा का आगमिक और औपनिषदिक स्वरूप दैहिक और ऐहिक न होकर परम आध्यात्मिक ही था। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कहते हैं—हिन्दुस्तान में तात्कालिक प्रचलित धर्मों में से जैन तथा उपनिषद् धर्म पूर्णतया निवृत्ति प्रधान ही थे।[3] महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज लिखते हैं—उपनिषद्कालीन प्राचीन साधना में जीवन मुक्ति की दशा को ही करुणा के प्रकाश का क्षेत्र स्वीकार किया गया है। ज्ञानी तथा योगी का परार्थ सम्पादन इस महान् क्षेत्र के अन्तर्भूत है। जीवन मुक्त ज्ञानी के जीवन का उद्देश्य भव दुःख की निवृत्ति के लिए उपाय रूप में ज्ञान दान करना है। करुणा के प्रकाशन की यही मुख्य प्रणाली थी। करुणा के प्रकाश करने की दूसरी प्रणालियां गौण समझी जाती थीं। जीवन मुक्त महापुरुष ही संसार-ताप से पीड़ित जीवों के उद्धार के लिए अधिकारी थे। वर्तमान जगत में करुणा के जितने ही आकार दिखाई पड़ते हैं वे आवश्यक होते हुए भी मुख्य करुणा के निदर्शन नहीं हैं।[4]

आत्म-उन्नायकता से देहोपचायकता की ओर

आत्मोन्नायक अहिंसा में देहोन्नायकता कब से और क्यों ?

यह हमने देखा कि प्राचीन अहिंसा चिन्तन में आत्मिक ऊर्ध्व सचरण की चिन्ता ही प्रमुख है। दैहिक अपेक्षाओं को वासना-परिणाम मानकर व्यक्ति को उनसे ऊपर उठ जाने के लिए प्रेरित किया गया है। भरत चक्रवर्ती द्वारा अपने अठाणवे भाइयों के राज्य छीन लिए गये। वे अठाणवे भाई असहाय और अनाथ

---

१ प्रश्नव्याकरणसूत्र संवरद्वार

२ एवमादीणि नियगुण निम्मियाइ पज्जवनामाणि होंति अहिंसाए भगवतीए।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र १ संवरद्वार

३ गीता रहस्य पृ० ५१०

४ बौद्ध धर्म-दर्शन भूमिका पृ० १७

स्थिति को प्राप्त होकर अपने पूर्व के पिता और वर्तमान में तीर्थंकर शान्तिनाथ प्रभु के पास गए और अपने राज्योपभोग छीन लेने की बात कही। शान्तिनाथ प्रभु ने उन्हें इन्द्रिय भोगों से पराङ् मुख करते हुए कहा—सम्यग् बोध को प्राप्त करो। परलोक में वह दुर्लभ है।[1] समस्त बन्धु प्रतिबुद्ध हुए और राज्य-लालसा को ठुकरा कर संयति बने। फलतोगत्वा दैहिक दुःख मुक्ति की अपेक्षा आत्मिक क्लेश मुक्ति ही यथार्थ व्यापक और उपयोगी है। पर यहां तो यही प्रसंगोपात्त है कि अहिंसा के इस आत्मोन्नयन प्रधान स्वरूप के साथ भारतीय धर्मों में देहोन्नयन की बात कब से प्रमुख बनी और उसके प्रेरक आधार क्या हैं?

निवर्तक और प्रवर्तक : एक संदिग्ध शब्द प्रयोग

अहिंसा की इस द्विविधता को कुछ विचारकों ने निवर्तक अहिंसा और प्रवर्तक अहिंसा के शब्द प्रयोग से अभिहित किया है।[2] इस तात्पर्य में कि निवृत्ति प्रधान अहिंसा निवर्तक अहिंसा और प्रवृत्ति प्रधान अहिंसा प्रवर्तक अहिंसा। कदाचित् यह शब्द प्रयोग यथार्थ भी माना जा सके परन्तु जब कि भगवान् श्री महावीर की अहिंसा जितनी निवृत्तिमूलक है, शुभयोग की अपेक्षा में उतनी प्रवृत्तिमूलक भी, तब उसे निकेवल निवर्तक शब्द से अभिव्यक्त करने में यथार्थता का अवबोध नहीं होता। साथ साथ प्रवृत्तिमूलक अहिंसा का विकास कहकर निवर्तक शब्द का प्रयोग करने में अहिंसा के असन्निवृत्तिमूलक और सत्प्रवृत्तिमूलक स्वरूप की क्षुण्णता भी अभिव्यक्त होती है। दैहिक दुःख निवृत्ति का स्वरूप स्वभावतः ही सीमित होता है। प्रवर्तक दया कुछ ही व्यक्तियों तक पहुंच सकती है। जीवन मुक्त वीतराग की करुणा मोह मुक्ति का बोध-दान बनकर अगणित लोगों को सुखी करती है। इसी करुणा का विस्तार प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ प्रभु से भगवान् श्री महावीर तक सभी तीर्थंकरों ने किया है और समस्त विश्व उनकी करुणा से उपकृत हुआ है। सहस्रों वर्ष पश्चात् आज भी हम उनकी बोध गंगा के कृतार्थ करुणापात्र हो रहे हैं। क्या यह सोचा भी जा सकता है कि उनकी वह अहिंसा निवर्तक या निष्क्रिय थी? उक्त शब्द-विन्यास के प्रयोक्ता प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी स्वयं भी प्रसंग भेद से तथ्यरूप में इस बात को स्वीकार करते हैं। धर्मानन्द कोसाम्बी की धारणाओं की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं—भगवान् पार्श्वनाथ की अहिंसा को वे केवल निषेधात्मक और बुद्ध की

---

१ संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
—सूत्रकृतांगसूत्र श्रु १ अ० २ गाथा १

२ अहिंसा के आचार और विचार का विकास

अहिंसा को विधायक कहते हैं जो ठीक नहीं लगता है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम त्रिविध मे। उनमे जन-परिभाषा के अनुसार समिति या सत्प्रवृत्ति का तत्त्व भी था और उनका एक विशिष्ट संघ था, ऐसा स्वयं कोशाम्बीजी भी स्वीकार करते हैं। यदि सारा त्यागी संघ केवल निष्क्रियरूप से बैठा रहता और कुछ भी काम नहीं करता तो जनता मे घर की हुई हिंसा प्रधान यज्ञो की संस्था को किस प्रकार हटा सकता या उसे निर्बल कर सकता। भगवान् महावीर से पहले जन परम्परा मे पूर्व श्रुत के अस्तित्व के और कर्म-तत्त्व विषयक कुछ और विशिष्ट साहित्य होने के प्रमाण भी मिलते हैं जो कि पार्श्वनाथ के संघ की निष्क्रियता के विरुद्ध सबल प्रमाण हैं।[1]

प्रवर्तक और निवर्तक यह शब्द युग्म तो तभी यथार्थ प्रयुक्त हो सकता है जब एक पक्ष प्रवृत्तिमात्र का निषेध करता हो और दूसरा पक्ष निवृत्तिमात्र का। वस्तुस्थिति यह है कि किसी एक का भी दूसरे मे पूर्ण निषेध नहीं है। निवृत्ति की विशुद्धता मे किसी को आपत्ति नही है। उस निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति को योजित करने का ही केवल आदिम अभिप्राय है। निवृत्ति प्रधान माने जाने वाला पक्ष भी केवल असद्प्रवृत्ति का निषेध करता है। सत्प्रवृत्ति के लिए वहा भी मुक्त संचार है। प्रवृत्ति-मात्र को प्रवृत्तिप्रधान पक्ष भी उपादेय कोटि मे नही मानता। वहा भी सत् असत् का विवेक तो अपेक्षित है ही। अधिक से अधिक प्रवर्तक पक्ष गीता का कर्म-योग है। वहां भी फलाशा रहित और करणीय[2] प्रवृत्ति का ही आचार-कोटि से माना है। यथार्थ भेद प्रवृत्ति और निवृत्ति का नहीं ठहरता। वह ठहरता है सत्प्रवृत्ति की व्याख्या का। एक पक्ष की व्याख्या मे कुछ एक प्रवृत्तिया सत् हैं तो दूसरे पक्ष की व्याख्या मे वे असत्। इस साधारण भेद को व्यक्त करने के लिए प्रवर्तक धर्म और प्रवर्तक अहिंसा निवर्तक धर्म और निवर्तक अहिंसा आदि प्रयोग सदिग्ध शब्द विन्यास हैं। भूखे को भोजन देना प्यासे को पानी पिलाना रोगी का औषधोपचार करना प्रवर्तक कही जाने वाली अहिंसा का मुख्य रूप है। व्यसनी को व्यसन मुक्त करना या भूख-प्यास रोगादि से व्याकुल को उन देहार्तियों का सामना करने के लिए प्रखर आत्म-बल देना आदि निवर्तक कही जाने वाली अहिंसा (दया) है। दया के दोनो रूपों मे व्यक्ति और समाज के

---

१ भारतीय संस्कृति और अहिंसा, अवलोकन पृ० २१

२ अनाश्रित कर्मफल कार्य कर्म करोति य ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निन चाक्रिय ॥
—गीता अ० ६ श्लोक १

लिए कौन-सा रूप अधिक उपयोगी व अध्यात्म-सम्मत है इसकी चर्चा यहां नहीं करेंगे। शब्द प्रयोग की दृष्टि से उक्त दोनों स्वरूपों में एक दैहिक दूसरा आत्मिक प्रत्यक्ष है। अतः अहिंसा (दया) के इस एक स्वरूप को देहोपचारक तथा दूसरे स्वरूप को आत्मोपचारक अथवा तत्सम अन्य शब्दों से कहा जाए तो अधिक यथार्थ लगता है।

भगवान् बुद्ध और महायान सम्प्रदाय की करुणा

गौतम बुद्ध के विधायक उपदेश

उपनिषदों व भगवान् श्री महावीर की आत्मोपचारक अहिंसा से देहोपचारकता का आरम्भ भगवान् बुद्ध की अहिंसा से माना जा सकता है। बौद्ध धर्म उत्कट देह दमन और उत्कट भोगवाद के बीच का मध्यम मार्ग था। अतः उसमें विधायक उपदेशों का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक था। महामंगलसुत्त में भगवान् बुद्ध कहते हैं—माता पिता की सेवा, पुत्र-दार का संग्रह, दान, धर्म चर्या, अनवद्य कर्म ये उत्तम मंगल हैं। यह विधायकता बुद्ध के मूलभूत उपदेशों में नाममात्र सी ही रही है पर आगे चलकर हीनयान और महायान के निर्वाण विषयक सैद्धान्तिक मतभेदों के आधार पर परम्परा विशेष में वर्द्धित हुई है। वह आदि भी आचार सम्बन्धी नियमों में शिथिलता चाहने वाली परम्परा में ही हुई है। इतिहास बताता है—राजगृह में बौद्ध संघ की जो प्रथम महासभा हुई थी उसी में नियमों का बन्धन कुछ ढीला करने का प्रयत्न किया गया था किन्तु उस प्रयत्न में सफलता न मिली। वैशाली की सभा में फिर प्रयत्न किया गया। उस सभा के स्थविरों ने उस प्रयत्न को दूषित ठहराया। उससे असंतुष्ट होकर सुविधा के इच्छुकों ने महासंगीति नाम से एक पृथक् सभा की। इसके प्रवर्तक महासंघिक नाम से प्रख्यात हुए, क्योंकि उस सभा में ऐसे ही भिक्षुओं की संख्या अधिक थी। महासंघिक लोगों का सम्प्रदाय महायान नाम से पुकारा जाने लगा। इसी प्रकार स्थविरवादियों का जो संगठन हुआ, वह हीनयान सम्प्रदाय कहलाया।[1]

हीनयान और महायान के मोक्ष सम्बन्धी विचार

हीनयान की मान्यता के अनुसार निर्वाण वैयक्तिक है इसलिए दुःख क्षय का साधनरूप धर्म और उसके भेद विशेष वैयक्तिक हैं। महायान के अनुसार निर्वाण

१ बौद्ध धर्म पृ० ६१, विशेष विवरण के लिए बौद्ध धर्म दर्शन खण्ड १, पृ० ४ से १० तक, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५४७ से ५३८

सामाजिक है। उसके कथनानुसार बुद्ध ने अपने दुःख-क्षय के लिए कुछ भी नहीं किया। व्यक्तिगत मोक्ष को उन्होंने रस विहीन माना।[1] जब तक एक भी प्राणी दुःख युक्त है तब तक मोक्ष काम्य नहीं है। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त नहीं किया, अपितु अब भी वे योन्यन्तर से सभी जीवों को मोक्ष प्राप्त कराने में संलग्न हैं।

महायान सम्प्रदाय का करुणा व लोकोपकार सम्बन्धी अभिमत

मोक्षवाद की इस सामुदायिक धारणा पर परानुग्रह वृत्ति का विकास हुआ। महायान बौद्ध परम्परा का एक प्रभावशाली और समर्थ सम्प्रदाय था। प्रारम्भ में भी वैशाली की संगीति में केवल सात सौ साधु एकत्रित थे और महासंघिकों की कौशाम्बी में होने वाली परिषद् में दस सहस्र बौद्ध भिक्षुओं की उपस्थिति थी।[2] आगे चलकर यह संघ और भी व्यापक व प्रभावशाली बना तथा करुणा व लोकोपकार के अपने अभिमत स्वरूप को जन जन तक पहुंचाने में सफल हुआ। डा० हरदयाल का कथन है—महायान के उद्गम में अनेक देश-काल जन्य प्रभावों के साथ गीता और ईसाई धर्म का बढ़ता हुआ प्रभाव भी हेतुभूत था।[3] यह कथन स्वाभाविक भी लगता है क्योंकि गीता कर्म योग के नाम से और ईसाई सेवा के नाम से लोक संग्राहक प्रवृत्तियों पर बल देते ही हैं। आश्चर्य केवल यही रह जाता है, महायान के आधारभूत ग्रन्थों में दुःख निवारण की चर्चाएं मिलती हैं पर उनसे ऐसा नहीं लगता वे अनाध्यात्मिक हैं। वहां अधिकांश चर्चा बन्धन रूप आन्तरिक बन्धनों के निवारण की ही उपलब्ध होती हैं। महायान अभिधर्म संगीति शास्त्र में महायान की सात विशेषताओं का उल्लेख किया है। उसमें बताया गया है—

---

१ क—एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मया साधितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥३ ६॥
मुच्यमानेषु सर्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्? ८ १०८॥
—बोधिचर्यावतार

ख—न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

२ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५४९

३ The Bodbisatva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature, pp 39 40

१ महायान वस्तुत महान् और विशाल है, क्योंकि उसमें जीव मात्र को मुक्ति का सन्देश है।

२ महायान में प्राणीमात्र के लिए त्राण का विधान है।

३ महायान का लक्ष्य बोधि प्राप्ति है।

४ महायान का आदर्श बोधि सत्त्व है जो समस्त प्राणियों के उद्धारार्थ सतत उद्योगशील रहता है।

५ महायान की मान्यता है कि भगवान् बुद्ध ने उपाय कौशल से नाना प्रकार के प्राणियों को नाना प्रकार से उपदेश दिया है जो पारमार्थिक रूप से एक है।

६ बोधि-सत्त्व की दस भूमियों का महायान में विधान है।

७ महायान के अनुसार बुद्ध सब मनुष्यों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में समर्थ हैं।

इन सातों विशेषताओं में व्यवहारिक जीवन के लोकोपकारक कार्यों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

भगवान् बुद्ध और क्षुधार्त्त व्यक्ति

एक बार भगवान् बुद्ध के पास एक क्षुधार्त्त व्यक्ति आया। भिक्षु उसे धर्मोपदेश देने लगे। वह उपदेश श्रवण में अन्यमनस्क था। भगवान बुद्ध ने कहा—पहले इसे रोटी खिलाओ फिर धर्मोपदेश करो। वैसा ही किया गया। इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है क्षुधा तथा आदि से जो मानसिक क्लेश उत्पन्न होता है उसका निवारण किए बिना धर्म-बोध अंकुरित नहीं होता। भोजन पानी उस बोध को अंकुरित करने में हेतुभूत हो जाते हैं। धर्म और धर्म के अवान्तर हेतु ये सर्वथा दो बातें हैं। शुभ अनुष्ठान के भी अवान्तर हेतु शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। बहुत सम्भव है, भगवान् बुद्ध की इस हेतुरूप अपेक्षा को सामान्य जीवन व्यवहार में वास्तविक अध्यात्म का स्थान मिल गया हो।

सम्राट अशोक के शिलालेखों में

सम्राट अशोक के शिलालेखों से भी इस सम्भावना की पुष्टि होती है। एक ओर उनमें मिलता है—

१ माता पिता की सेवा करनी चाहिए। विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिए। यही प्राचीन रीति है।[1]

२ देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा, एक मनुष्यों

---

१ अशोक के धर्म लेख, ब्रह्मगिरी, द्वितीय शिलालेख पृ० ६६

की चिकित्सा और दूसरी पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध किया है। औषधियाँ भी मनुष्यों और पशुओं के लिए जहाँ जहाँ नहीं थीं, वहाँ-वहाँ लाई और रोपी गई हैं। इसी तरह से मूल और फल भी जहाँ जहाँ नहीं थे, सब जगह लाए और रोपे गए हैं। मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिए वृक्ष लगाए और कुएं खुदवाए गए हैं।[1]

३ प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन में बन्धुओं का आदर, ब्राह्मण और श्रमणों का आदर, माता पिता की सेवा तथा वृद्धों की सेवा बढ़ गई है।[2]

४ वृद्धों के दर्शन करना और उन्हें स्वर्ण दान देना चाहिए।[3]

इन समस्त उल्लेखों का हार्द एक दूसरे सम्मुल्लेख से भली भांति पकड़ा जा सकता है, जिसमें सम्राट अशोक कहते हैं—राजपथों पर भी मैंने मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिए बरगद के पेड़ लगवाए, आम्र वृक्ष की वाटिकाएं लगवाईं, आध आध कोस पर कुएं खुदवाए, सराएं बनवाईं और जहाँ-तहाँ पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिए अनेक पौंसले (प्याऊ) बैठाए। किन्तु यह उपकार कुछ भी नहीं है। पहले के राजाओं ने और मैंने भी विविध प्रकार के सुखों से लोगों को सुखी किया है। किन्तु मैंने यह (सुख की व्यवस्था) इसलिए की है कि लोग धर्म के अनुसार आचरण करें।[4]

इस उल्लेख से यह धारणा और भी स्पष्ट हो जाती है कि सम्राट अशोक ने विशेषतः धर्माचरण का हेतु मानकर यह सब व्यवस्था की है। तत्त्व स्थिति में और व्यवहार में बहुत बार इस प्रकार के मौलिक भेद पड़ जाते हैं। सर्वसाधारण मूलग्राही न होकर स्थूलग्राही होते हैं। दान के चित्त, वित्त और पात्र[5] तथा देश काल[6] सम्बद्ध सात्त्विक स्वरूप शास्त्रों में रह गए हैं और सर्वसाधारण ने दानमात्र को ही मोक्षप्रद मानकर अपना लिया है। भगवान् बुद्ध और महायानी करुणा निरूपण के साथ भी यही घटित हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

---

१ अशोक के धर्म-लेख, द्वितीय शिलालेख पृ० १२१

२ अशोक के धर्म लेख, चतुर्थ शिलालेख पृ० १४८

३ अशोक के धर्म लेख अष्टम शिलालेख पृ० १६७

४ अशोक के धर्म लेख, सप्तम स्तम्भलेख (दिल्ली टोपरा) पृ० ३७४ ७६

५ दुल्लहाओ मुहादायी, मुहाजीवी वि दुल्लहा।

—दसवकालिकसूत्र अ० ५ गा० १००

६ देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।

महायान और लोक संग्राहकता पर लोकमान्य तिलक

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का निवृत्ति प्रधान बौद्ध धर्म से महायान जैसा प्रवृत्ति लक्षण सिद्धान्त आविर्भूत हो सकता है यह मानने को भी प्रस्तुत नहीं हैं। उनका कहना है—इस तत्त्व का विस्तार प्रतिपादन गीता के अतिरिक्त कहीं भी नहीं किया गया है कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष लोक संग्रह के लिए प्रवृत्ति धर्म ही को स्वीकार करे। अतएव यह अनुमान करना पड़ता है कि जिस प्रकार मूल बौद्ध धर्म में वासना को क्षय करने का निरा निवृत्ति प्रधान मार्ग उपनिषदों से लिया गया है, उसी प्रकार जब महायान पंथ निकला तब उसमें प्रवृत्ति प्रधान भक्ति-तत्त्व भी भगवद्गीता से ही ले लिया गया होगा।[1]

आगे सन्दर्भ में वे लिखते हैं—नीचे लिखी हुई चार बातों से इतना तो निःसन्देह सिद्ध हो जाता है कि बौद्धधर्म में महायान पंथ का प्रादुर्भाव होने से पहले केवल भागवत धर्म ही प्रचलित न था बल्कि उस समय भगवद्गीता भी सर्वमान्य हो चुकी थी और इसी गीता के आधार पर महायान पंथ निकला है। वे चार बातें इस प्रकार हैं—

१ केवल अनात्मवादी तथा संन्यास प्रधान मूल बौद्धधर्म ही से आगे चलकर क्रमशः स्वाभाविक रीति पर भक्ति प्रधान तथा प्रवृत्ति प्रधान तत्त्वों का निकलना सम्भव नहीं है।

२ महायान पंथ की उत्पत्ति के विषय में स्वयं बौद्ध ग्रन्थकारों ने श्रीकृष्ण के नाम का स्पष्टतया निर्देश किया है।

३ गीता के भक्ति प्रधान तथा प्रवृत्ति प्रधान तत्त्वों की महायान पंथों के मतों से अर्थतः तथा शब्दशः समानता है।

४ बौद्ध धर्म के साथ तत्कालीन प्रचलित अन्यान्य जैन तथा वैदिक पंथों में प्रवृत्ति प्रधान भक्ति मार्ग का प्रचार न था।[2]

अन्यान्य इतिहासकारों का भी अभिमत है कि भगवान् बुद्ध के मूल सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाला तो हीनयान सम्प्रदाय ही है। महायान तो बौद्ध धर्म में अविद्यमान तथा बीजरूप से विद्यमान लोक-संग्राहक धारणा को संगृहीत या विस्तृत करने वाला सम्प्रदाय है। कुछ भी हो भारतवर्ष में यह लोकैषणापूरक अहिंसा (करुणा) को अग्रसर करने में बहुत सफल रहा है, यह तो निर्विवाद है ही।

---

१ गीता रहस्य पृ० ६११

२ गीता रहस्य पृ० ६१३

गीता की लोक सग्राहक दृष्टि

भक्तिवाद की भूमिका मे मौलिक अन्तर

गीता प्राय समस्त वदिक परम्पराओ का एक मान्य ग्रन्थ है। इसम ज्ञान, भक्ति कम आदि अनेको साधना अगो को मान्यता दी गई है। वसे ये अग प्रभग किंचित स्वल्पान्तर से सभी भारतीय धर्मों म विद्यमान हैं। ज्ञान, निवृत्ति, सन्यास, जनो और बौद्धो मे उत्कृष्ट स्थिति से विकसित हुए हैं यह सब विदित है। भक्ति माग का विकास ईश्वर कतृत्ववादी सम्प्रदायो म विशेष रूप स हुआ है। यह स्वाभाविक भी था। सर्वार्पण और सर्वो सजन किसी दूसरे के प्रति तभी पूणता प्राप्त कर सकते हैं जबकि किसी सत्ता विशेष के प्रति कर्ता धर्ता होने की निष्ठा रोम रोम मे बस गई हो। वही सब कुछ मेरा करेगा यह विश्वास अटल हो गया हो। जना और बौद्धो म कतत्ववाद नही है फिर भी भक्तिवाद के लिए समुचित स्थान है। वहा साधक प्रतिदिन कहता है— अरिहन्ते सरण पवज्जामि, सिद्ध सरण पवज्जामि, साहू सरण पवज्जामि केवली पन्नत्त धम्म सरण पवज्जामि[1] अर्थात मैं अरिहन्त सिद्ध साधु व केवली प्ररूपित धम की शरण ग्रहण करता हू। बुद्ध सरण गच्छामि, धम्म शरण गच्छामि सघ शरण गच्छामि[2]—मैं बुद्ध की शरण जाता हूं धम की शरण जाता हू सघ की शरण जाता हू। यह जना और बौद्धों की भक्ति का निदशन है। यहा साधक यह मानकर चलता है कि भगवान् को मैं अपनी आत्म परिणति से अपने लिए प्रेरक बना रहा हूं, पर मेरी इस भक्ति से तुष्ट होकर भगवान् मेरे लिए कुछ भी करने नही आएगे। भक्ति की भूमिका का यह श्रमण और वदिक धाराओ मे मौलिक अन्तर है। वदिक परम्पराओ म अनेक भक्तों के भगवन् साक्षात्कार होने की चर्चाए हैं पर जन व बौद्ध परम्पराओ में ऐसी सम्भावनाओ के लिए कोई स्थान नही है।

अनासक्ति के नाम पर भोगवाद का आलम्बन

कमयोग की देन गीता की अपनी निराली है। गीता के कमयोग का व्यापक होना इसलिए भी सहज था कि वह लोक रुचि के अनुकूल पडता है। मोक्षार्थी मनुष्य यह क्यो नहीं चाहेगा कि उस मोक्ष प्राप्ति के लिए गृह-त्याग न करना पड और केवल अनासक्ति की शत पर ही उस वह मिल जाए। अनासक्ति की बात भी सीधी बाढ ता नही है और समस्त दहिक कम करते हुए व्यक्ति सवथा

१ आवश्यक सूत्र मंगल पाठ

२ भगवान बुद्ध पृ० १७७

अनासक्त रह सके यह बुद्धिगम्य भी कहाँ तक है, यह एक विचारणीय विषय है। राजर्षि जनक का नाम लेकर मात्र लोक प्रवाह कर्मयोग की शिक्षा में चल पड़ा है पर उस प्रवाह में कितने लोग हैं जो दाएँ हाथ पर चन्दन और बाएँ हाथ पर अग्नि का स्पर्श होने पर भी दोनों की समानानुभूति करते हों, जैसा कि जनक ने अपने विषय में कहा था। ऐसे ही कुछ लोग अपने जीवन-व्यवहार में अनासक्ति का विशिष्ट परिचय दे रहे हों। सामान्यतः तो यह अनासक्तिवाद अधिकांश लोगों के लिए भोगवाद पर चलते रहने का एक आलम्बन बन गया है। आज के युग में एक पद पर दस लोग भूखे भेड़िये की तरह झपटते हैं, यह है आज का निष्काम कर्मयोग। व्याख्याएँ कितनी ही सुन्दर हों, सिद्धान्त की कसौटी तो उसका व्यवहार है।

गीता प्रवृत्तिमार्गी ग्रन्थ या निवृत्तिमार्गी ?

गीता निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति को प्रधानता देने वाला ग्रन्थ है, यह भी निर्विवाद विषय नहीं है। वेदान्त के अनेक आचार्यों ने इस पर निवृत्ति प्रधान भाष्य लिखे हैं। शंकराचार्य ने भी गीता दर्शन को इसी दृष्टि से देखा है। उनका कहना है—इस गीता शास्त्र का प्रयोजन संक्षेप में परम निःश्रेयस् की प्राप्ति ही है। परम निःश्रेयस् का तात्पर्य उनके शब्दों में सहेतुक संसार की आत्यन्तिक शान्ति है।[1] परम निःश्रेयस की प्राप्ति का उपाय बताते हुए उन्होंने कहा है कि वह सर्वकर्म-संन्यास पूर्वक आत्म ज्ञान निष्ठारूप धर्म से ही सम्भव है।[2]

सारांश यह है आचार्य शंकर के मतानुसार गीता ज्ञान मार्ग का ग्रन्थ है। वर्तमान युग में श्री लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी प्रभृति आधुनिक विचारकों ने गीता को कर्मयोग प्रधान ग्रन्थ माना है और इसी का व्यापक विवेचन उन्होंने अपने साहित्य में किया है। वस्तुस्थिति यह है गीता ने कर्म और ज्ञान इन दोनों ही विषयों पर अधिक बल दिया है। कर्म प्रेरणा के प्रसंग में अर्जुन से श्रीकृष्ण कहते हैं—कर्म में ही तेरा अधिकार है[3] इसलिए योगस्थ होकर तू कर्म कर।[4] कर्मों के अनारम्भ से ही मनुष्य नैष्कर्म्य का अनुभव नहीं कर सकता और न केवल

---

१ अस्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परमं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्। —गीता भाष्य का उपोद्घात

२ तच्च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकात् आत्मज्ञाननिष्ठारूपाद् धर्माद् भवति। —गीता भाष्य का उपोद्घात

संन्यास से ही सिद्धि प्राप्त करता है। इसलिए तू निश्चय ही कर्म कर।[1] बिना कर्म किए कोई क्षण भर भी नहीं रह सकता।[2] इसलिए तू निश्चय ही कर्म कर।[3] बिना कर्म किए तो तेरी शरीर-यात्रा भी नहीं चलेगी।[4] इसलिए तू राग रहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर क्योंकि यज्ञार्थ कर्म से व्यतिरिक्त कर्म इस लोक में बन्धन का कारण है[5]। अतः अनासक्त होकर तू सतत करणीय कर्म को कर।[6] दक्ष जनकादि ऋषियों ने भी तो कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की अतः लोक-संग्रह की दृष्टि से भी तुझे कर्म करना चाहिए।[7] लोक संग्रह की दृष्टि से विद्वान् पुरुष को सदा अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए।[8] ज्ञान पूर्वक पूर्व काल में मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया है, इसलिए पूर्वजों का अनुसरण करता हुआ तू कर्म कर।[9] करणीय कर्म

---

१ न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

—गीता ३ ४

२ न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।

—गीता ३ ५

३ नियतं कुरु कर्म त्वं।

—गीता ३ ८

४ शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण।

—गीता ३ ७

५ यज्ञार्थात्कर्मणो यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्ग समाचर॥

—गीता ३ ९

६ तस्मादसक्त सततं कार्यं कर्म समाचर।

—गीता ३ १९

७ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥

—गीता ३ २०

८ कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।

—गीता २५

९ एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभि।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

—गीता ४ १५

को जो आसक्ति छोड़कर करता है वही संन्यासी है वही योगी है न कि अग्नि और क्रिया को छोड़ने वाला।[1] इसलिए जिसे संन्यास कहा गया है उसे तू योग समझ।[2] यज्ञ दान तप आदि कर्म छोड़ने योग्य नहीं हैं।[3] इन्हें तू आसक्ति और फल की कामना छोड़कर कर, यह मेरा निश्चित मत है।[4] कर्म-फल का त्यागी ही वास्तव में त्यागी है[5], और काम्य कर्मों का त्याग ही संन्यास कहा जाता है।[6] इसलिए तू कर्म कर।

कर्म पर इतनी पुनरुक्तियों के साथ मुहुर्मुहु बल देने से ऐसा लगना बहुत सहज है कि गीता प्रवृत्ति लक्षण धर्म का ही ग्रन्थ है ज्ञान-परायण निवृत्ति मार्ग का नहीं। किन्तु ज्यों ही हम उसकी निवृत्ति-परायण ज्ञान मीमांसा की ओर दृष्टि पात करेंगे तो दोनों पलड़े सम होने लगेंगे। वहां ज्ञान में सम्पूर्ण कर्म की परिसमाप्ति हो जाती है।[7] ज्ञानाग्नि से सब कर्म भस्मीभूत होते हैं।[8] वहां ज्ञान के सदृश पवित्र

---

१ अनाश्रित कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
—गीता ६ १

२ यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
—गीता ६ २

३ यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
—गीता १८ ५

४ एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
—गीता १८ ६

५ यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।
—गीता १८ ११

६ काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
—गीता १८ २

७ सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।
—गीता ४ ३३

८ क—ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
—गीता ४ ३७

ख—ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।
—गीता ४ १९

कुछ नहीं है।[1] ज्ञानी स्वयं भगवान् हो जाता है।[2] ज्ञानरूपी नाव के द्वारा व्यक्ति सम्पूर्ण पापों से पार होता है।[3] ज्ञान के द्वारा ही परम शान्ति उपलब्ध होती है।[4] इत्यादि अनेकानेक कथनों से गीतोक्त ज्ञान मार्ग भी कर्म मार्ग से हल्का नहीं रह जाता। कर्म और संन्यास में कर्मयोग ही विशेष है[5] यह एक उक्ति कर्मयोग के पलड़े को अवश्य थोड़ा भारी कर देती है। शंकराचार्य का अभिमत है—कर्मयोग के पक्ष में गीता का यह तो केवल श्लाघा वचन ही है अर्थात् वह केवल अर्थवादात्मक है। वास्तव में तो संन्यास मार्ग ही श्रेष्ठ है।[6] रामानुज भाष्य में भी इस कथन को केवल अर्थवादात्मक माना है।[7] कुछ एक तटस्थ विद्वानों का भी अभिमत है कि गीता का चरम लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति ही है और कर्म पर उसका आग्रह उसकी इस चिन्ता को अभिव्यक्त करता है कि कहीं ज्ञान अक्रियावादी न हो जाए। इस प्रकार गीता का साध्य तो परम निःश्रेयसरूप ज्ञान ही मानना पड़ेगा और उसका साधन कर्म, तभी गीता को उपनिषदों का सार[8] कहा जा सकता है।

ज्ञान और कर्म की इस प्राचीन चर्चा को विस्तृत करना यहां आवश्यक नहीं है। गीता ज्ञान मार्ग का ग्रन्थ है या कर्मयोग का यह विषय भी विवादास्पद है, पर इतना तो निर्विवाद है ही कि गीता ने लोक-संग्राहक प्रवृत्ति पर अधिक-से अधिक बल दिया है और भारतीय अध्यात्म के क्षेत्र को प्रभावित किया है। संक्षेप में कहा जा सकता है, महायान धर्म की अपेक्षा भी धर्म के क्षेत्र में लौकिक प्रवृत्तियों को स्थान देने में गीता का स्थान उससे भी अधिक रहा है।

---

१ नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
—गीता ४ ३८

२ ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
—गीता ७ १८

३ सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।
—गीता ४ ३६

४ ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।
—गीता ४ ३९

५ तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।
—गीता ५ २

६ गीता, शांकर भाष्य ५ २

७ गीता रामानुज भाष्य ५ १

८ सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

ईसाई धर्म का प्रभाव

विगत दो सहस्राब्दियों म ईसाई धम भी वतमान विश्व के कोने-कोने तक फला है। बाइबिल म भी शरीर-सेवा अर्थात् दुःख दया पर अधिक-स अधिक बल दिया गया है। कुछ एक पाश्चात्य विद्वानो का यह भी अभिमत रहा है कि लोक सेवा का सिद्धान्त बाइबिल स गीता म आया है।[1] यह यथाथ न भी हो तो भी दुःख दया और शरीर सेवा के विचारों का प्रभाव भारतीय जन मानस पर तो अवश्य किसी-न किसी रूप म पडा ही है।

भारतीय अध्यात्म में निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति ने जिस प्रकार स्थान लिया इस तथ्य की प्रताव पू० सुखलालजी इस प्रकार समीक्षा करते हैं— बुद्ध ने कहा —ब्रह्म सारे जगत में है। हमारे जीवन म जो समानता है वही ब्रह्म है और इसी ब्रह्म के अनुसार जीवन बनाने को उन्होने ब्रह्म विहार का नाम दिया। इससे अहिंसा का विधायक माग—प्रवतक रूप निकला। प्राणीमात्र म प्रम करना उसकी सवा करना, उस कष्ट स मुक्त करना हमारा कतव्य है इस विचार म अहिंसा क प्रवतक-माग का बाजारोपण हुआ। भारत के बाहर अहिंसा के प्रवतक माग का विकास ईसा के द्वारा हुआ। हमारे देश में इसका विकास थोडा और दर म हुआ। अशोक के राज्यकाल का अध्ययन करने स पता चलता है कि उनके व्यवहार म निवतक कार्यों के साथ साथ प्रवतक कार्यों पर भी बल दिया गया। हिंसा निवृत्ति के साथ साथ धमशाला बनवाना पानी पिलाना पड लगाना आदि परोप कार के काय भी हुए। अशोक न प्रचार किया कि हिंसा न करना तो ठीक है पर दया धम करना भी उचित है। इसमें शक नहीं कि हमारे देश म दानशालाए, पिंजरापोल आदि बडी सख्या म खुल, फिर भी हमें स्वीकार करना होगा कि हमारे देश में प्रवतक धम की अपक्षा निवतक धम ही अधिक फला।[2]

प्रसगान्तर स वे कहते है— जन परम्परा ने प्रवृत्तिलक्षी अग की अपक्षा निवृत्ति-लक्षी अग पर ही अधिक भार दिया है। इसलिए वह बौद्ध स्थविर माग की भाति वयक्तिक मोक्ष की चर्चा में ही रम लती रही है। जब बौद्ध परम्परा म कवल वयक्तिक मोक्ष की चर्चा न असन्तोष उत्पन्न किया तब उसम से महायानी पथ फूट निकला। उसने सवसग्राही—सवकल्याणकारी दृष्टि का विकास एव स्थापन यहा तक किया कि जब तक एक भी प्राणी बद्ध हो तब तक वयक्तिक

---

१ गीता रहस्य पृ० ६१३ १४

२ अहिंसा के आचार और विचार का विकास पृ० ७ ८

मोग शुष्क एव रस विहीन है। गीता और महायान दोनो अपने अपने ढग से लोक सग्राही धर्म माग का ही निरूपण करते हैं।[1] यह हुआ अहिंसा के विभिन्न युगो मे प्रचलित विभिन्न स्वरूपो का एक ऐतिहासिक अवलोकन। इससे पूर्व कि हम विकास स्वरूपो की यथार्थता का विवेचन कर यह आवश्यक होगा कि भगवान् श्री महावीर के पश्चात् इन अढाई हजार वर्षों मे जैन अहिंसा मे क्या-क्या रूपान्तर आए, इस विषय पर एक झाँकी डालें।

अहिंसा के अपवाद और पुण्य-मान्यताए

अहिंसा विभक्ति के दो कारण

वीर निर्वाण से लेकर विगत दो सहस्र वर्षों मे भारतीय जन मानस को प्रभावित करने वाली नाना स्थितिया आई। हम यह नि सकोच मान सकते हैं भगवान् श्री महावीर का युग अहिंसा विकास का सर्वोच्च शिखर था। वदिको का उपनिषद् चिन्तन और बौद्धो का अहिंसा विचार भी भगवान् श्री महावीर के मन्तव्यो को बहुत प्रकार से बल दे रहे थे। कहा जा सकता है इस समय अहिंसा आचार और विचार मे अपने उत्कर्ष पर थी। अहिंसा की व्याख्याए अधिक-से अधिक निरपवाद थी। क्रमश उन व्याख्याओ मे शैथिल्य का सचार हुआ। यह स्वाभाविक ही होता है कि हिमालय के उत्तुग शिखरो से चला जल प्रवाह उच्चावच उपत्यकाओ और अधित्यकाओं को पार कर जब नाना पदार्थ-पूरित समतल भूमि पर बहता है तो क्रमश दूषित होता ही है। उस युग की अखण्ड अहिंसा विशेषकर दो ही कारणो से विभक्त होती गई। प्रथम कारण था, अपवाद-सयोजन और दूसरा कारण था प्रवृत्ति प्रधान और लौकिक एषणा प्रधान विचारो को आध्यात्मिक रूप मिलना।

वदिक परम्परा मे अपवाद सयोजन

वदिक परम्परा म तो अपवाद बाहुल्य चिरपोषित था ही। एक ओर अहिंसा का निर्देशन था—अहिंसा ही परम धर्म है।[2] इस जगत म ऐसे सूक्ष्म जन्तु है, जिनका अस्तित्व नेत्रगम्य नहीं केवल तर्कगम्य है। पलकों के निपात मात्र म न

---

१ अध्यात्म विचारणा पृ० १३१ ३२

२ अहिंसा परमो धर्म।

—महाभारत अ० ११ १३

जाने पर कितने जीवों का नाश हो जाता है।[1] शत्रु और मित्र में, मान और अपमान में, शीत और उष्ण में, सुख और दुःख में जो सम है, जो अनासक्त है वह मेरा प्रिय है।[2] दूसरी ओर कहा गया—सदा क्रोध करना श्रेयस्कर नहीं होता और सदा क्षमा करना भी। पण्डितजनों ने क्षमा के नाना अपवाद माने हैं।[3] आततायी होकर जो मनुष्य सामने आ रहा है उसे तत्काल मार देना चाहिए इस बात का विचार न किए बिना कि वह गुरु है, वृद्ध है, बालक है या बहुश्रुत ब्राह्मण।[4] वैदिक परम्परा में यही स्थिति सत्य, अचौर्य आदि मान्यताओं की रही है। एक ओर कहा गया—सारी सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ऋत और सत्य पैदा हुए और सत्य ही से आकाश, पृथ्वी, वायु आदि पंच महाभूत स्थिर हैं।[5] सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।[6] जो लोग इस संसार में स्वार्थ के लिए, परार्थ के लिए या विनोद में भी असत्य नहीं बोलते वे स्वर्गगामी होते हैं।[7] दूसरी ओर मनुस्मृति

---

१ सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः॥
—महाभारत शान्तिपर्व १५ २६

२ समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
—गीता—१२ १८

३ न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता॥
—महाभारत वनपर्व २८ ६ ८

४ गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥
—मनुस्मृति ८ ३५०

५ ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
सत्येनोत्तभिता भूमिः।
—ऋ० १० ८५ १

६ नास्ति सत्यात्परो धर्मः।
—महाभारत शान्तिपर्व १६२ २४

७ आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः॥
—महाभारत अनुशासनपर्व १४४ १९

और महाभारत जैसे ग्रन्थों में बताया गया—हँसी में, स्त्रियों के साथ, विवाह के समय, जब अपने जीवन पर आ बने तब और सम्पत्ति की रक्षा के लिए इन प्रसंगों पर असत्य बोलने में पाप नहीं होता।[1] एक ओर कहा गया—धर्माचरण भी छद्म पूर्वक नहीं करना चाहिए।[2] दूसरी ओर कहा—वधिक आकर पूछे वध्य कहाँ है और तुम जानते हो तो तुम्हें वहाँ गूंगा बन जाना चाहिए। हूँ हाँ करके बात टाल देनी चाहिए।[3] इसमें भी काम न चले तो झूठ बोल देना चाहिए।[4] विश्वामित्र मुनि ने दुर्भिक्ष में क्षुधातुर होकर श्वपच के घर से कुत्ते का मांस चुराया और अपनी प्राण रक्षा में प्रवृत्त हुए। श्वपच ने जब उन्हें शास्त्र-बोध देना प्रारम्भ किया तो वे कहने लगे—चुप रह, मरने से तो जीना श्रेयस्कर ही है। जीवित रहकर तो व्यक्ति और भी धर्माचरण कर सकता है।[5] इस प्रकार वैदिक परम्परा में और भी अनेकों आदर्श अपवाद-संयोजन से निर्बल और निष्प्राण हुए हैं।

जैन परम्परा में अपवाद-संयोजन

अहिंसा के विषय में सर्वाधिक कठोर रुख अपनाने वाली जैन परम्परा में भी देश काल और परिस्थितियों के साथ सामंजस्य बिठाते बिठाते उसका अहिंसा का विचार कहाँ से कहाँ तक पहुँच गया। भगवान् श्री महावीर का सन्देश प्राणी मात्र के प्रति मैत्री रखना था।[6] उसमें सज्जन या दुर्जन का कोई अपवाद नहीं माना जा सकता। व्यक्ति और समूह का ऐहिक या पारत्रिक हित हिंसा-साध्य नहीं हो सकता। लेकिन काल क्रम के साथ साधु संघ ने आचार विषयक नियमों

---

१ न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पंचानृतान्याहुरपातकानि॥
—महाभारत आ० ८२ १६ और शान्तिपर्व १०९ तथा मनु० ८ ११०

२ न व्याजेन चरेद्धर्मं।
—महाभारत आ० २१५ ३४

३ जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत।

४ अवश्यं कूजितव्ये वा शंकेरन् वाप्यकूजनात।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्।
—महाभारत शान्तिपर्व १०९ १६

५ जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन्धर्ममवाप्नुयात।
—महाभारत शान्तिपर्व १४१

६ मेत्तिं भूएसु कप्पए।

को लेकर, धर्म प्रभावना को लेकर या धर्म और धर्म-संघ के संरक्षण को लेकर सूक्ष्म और स्थूल हिंसाएं भी अहिंसा की कोटि में आ गई। उदाहरणार्थ हिंसापरक होने के कारण जैन मुमुक्षु के लिए वर्जित है। असंस्कारित भोजन का भक्षण करने वाला मुमुक्षु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त पाता है[1] यह शास्त्रीय विधान है। आगे चलकर उसके साथ यह अपवाद जुड़ जाता है—रोगोपशमन के लिए व क्षुधा शान्ति के लिए साधु सचित्त भोजन का भक्षण भी करे तो अहिंसा का ही आचरण करता है हिंसा का नहीं।[2] सचित्त वृक्ष पर चढ़ना साधु के लिए वर्जित है।[3] पर आगे चलकर श्वान की औषधि के लिए, मार्ग में क्षुधा निवारण एवं के लिए जल प्रवाह से बचने के लिए चोर राजा सिंह हाथी आदि के भय से बचने के लिए वृक्ष पर चढ़ना निर्दोष मान लिया जाता है।[4]

आधाकर्म दूषित आहार व मांस

एषणा समिति भी अपवादिक स्थितियों में यहां तक मुक्त कर दी गई कि

1 जे भिक्खू सचित्तं अंबं भुंजइ भुंजंतं वा सातिज्जति।

—निशीथसूत्र उद्देशक १५ सू० ५

2 बितियपदमणप्पज्झे भुंजे अविकोविए व अप्पज्झे।
जाणते वा वि पुणो, गिलाण अद्धाण ओमे वा ॥
खित्ताविओ अणप्पज्झो वा भुंजति, सेहो अविकोवियत्तणओ अजाणतो, रोगोवसमणिमित्तं वेज्जुवदेसितो गिलाणो वा भुंज अद्धाणोमेसु वा असंथरंता अजंता विसद्धा ॥

—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णिका उद्देशक १५ गाथा ४६६५

3 जे भिक्खू सचित्तरुक्खं दुरुहइ, दुरुहंतं वा सातिज्जति।

—निशीथसूत्र उद्देशक १२ सूत्र ६

4 बितियपदमणप्पज्झे, गेलण्णऽद्धाण ओम उदए य।
उवही सरीर तेणग, सणप्पए अट्टमादीसु ॥
खेत्तादिया अणप्पज्झे दुरुहेज्ज गेलण्ण ओसधऽट्ठा अद्धाणोमे असंथरंता फलमट्ठा उदगपूरे आयरक्खट्ठा, उवधिसरीरतेणगेसु रायबोधियादिभएसु वा दुरुहिति। णिलुक्कति, सीहादिसणप्पए जइहम्मि वा वयाए आवतते आयर एवमट्ठा दुरुहेति। तत्थ पुव्वं अचित्त, ततो परित्तमीसे, ततो अणंतमीसे, ततो परित्तसचित्ते ततो अणंतसचित्ते एव कारणा जयणाए ण दोसा।

—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णिका उद्देशक १२ गाथा ४०४१

जहां के लोगों को यह पता हो कि 'जैन श्रमण मांस नहीं लेते' वहां आधाकर्म दूषित (साधु के लिए बनाया गया) आहार लेने में कम दोष है और मांस लेने में अधिक दोष है क्योंकि परिचित जनों के यहां से मांस लेने पर निन्दा होती है। किन्तु जहां के लोगों को यह पता नहीं कि जैन श्रमण मांस नहीं खाते, वहां मांस का ग्रहण करना अच्छा है और आधाकर्म दूषित आहार लेना अधिक दोषावह है। क्योंकि आधाकर्मिक आहार लेने में जीव घात है। अतएव ऐसे प्रसंग में सर्वप्रथम द्वीन्द्रिय जीवों का मांस लें, उसके अभाव में क्रमशः त्रीन्द्रिय आदि का। इस विषय में स्वीकृत साधु वेष में ही लेना या वेष बदलकर इसकी भी चर्चा है।[1] इस चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है अहिंसा के संस्कार बद्धमूल होने के कारण आपवादिक स्थिति में भी अनुद्दिष्ट अर्थात् सहज रूप से उपलब्ध निर्जीव मांस को ग्रहण करके भी उद्दिष्ट हिंसा-जन्य आधाकर्मी आहार ग्रहण से बचने के लिए कहा गया है पर इससे अहिंसा के प्रति होने वाले क्रमिक शैथिल्य का ही आभास मिलता है। दो अवांछनीय प्रवृत्तियों में से प्रथम एक को अपनाया गया और फिर दूसरी को भी। रोगादि विशेष स्थितियों में आधाकर्मी आहार ग्रहण करने के भी विधि विधान देखे जाते हैं।[2]

हंस तेल की भी ग्राह्यता

लगता है मुमुक्षु लोग आत्मधर्मी न रहकर शरीरधर्मी हो गये थे। रोगावस्था में चोरी से या मन्त्र प्रयोग से अपेक्षित औषधि प्राप्त करना उचित मानने लगे थे।[3] औषधि में हंस तेल जैसी वस्तु लेना भी अनुचित नहीं माना गया।[4] चूर्णि

१ जत्थ णज्जति जहा—'एते समणा मंसं ण खायंति' तत्थ संलिंगेण पिसिते घेप्पमाणे उड्डाहो भवति, अतो वर अहोकम्मं ण पिसियं तु। जत्थ पुणो ण णज्जति तत्थ वर पिसितं, एवं पिसियग्गहणे विहि पुव्वं बइंदियपिसितं घेतव्वं, तस्सासति तेइंदियाण, एव असतीते—जाव पंचेंदियाण पिसितं ताव णयव्वं।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा ४३७ ३८

२ सद्धर्ममण्डन पृ० ४८८

३ एमेव गिहत्थेसु वि, भद्दगमावीसुपढमतो गिण्हे।
अभियोगासति ताले, ओसोवण अंतधाणादी॥

—निशीथ भाष्य गाथा ३४७

४ एमेव य ओमम्मि वि रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अगतोसहादिदव्वं कल्लाणग हंसतेल्लादी॥

—निशीथ भाष्य गाथा ३४८

कार ने हस तेल बनाने की विधि का उल्लेख किया है—हस को चीरकर मल मूत्रादि निकालकर उस प्रकार के पदार्थों से भरकर उसकी सिलाई कर दी जाती है। फिर उसे पकाकर जो तेल तयार किया जाता है वह हस तेल होता है।[1] भले ही साधु ऐसी पाक क्रिया स्वय न करते हों पर रोग मुक्ति के लिए औषध आदि प्रयत्नों से भी उस प्रकार से निर्मित औषधि को प्राप्त करना भयकर देह ममता का सूचक है। इस प्रकार की अनन्तानुबन्धी जसी ममता में क्या सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र टिक सकते थे?

विरोधी को अप्रत्यक्ष मृत्यु दण्ड

प्राणीमात्र की अहिंसा में विश्वास रखने वाले साधकों ने नाना ज्वलन्त हिंसाओं को किस प्रकार अहिंसा में ला दिया था उसके भी अनन्त उदाहरण आगम अतिरिक्त साहित्य में मिलते हैं। धर्म रक्षा के लिए अर्थात् साधु-संघ या चैत्य की रक्षा के लिए विरोधी व्यक्ति का पुतला बनाकर उसे अभिमन्त्रित कर यदि खण्डित किया जाए तो वह हिंसा हिंसा नहीं है।[2] वह मन्त्रवाद का युग था। यह माना जाता था, उक्त प्रकार से अभिमन्त्रित पुतले पर ममाघात करने से शत्रु पर मर्माघात होता है और इस प्रकार वह अप्रत्यक्ष रूप से ही मारा जा सकता है।

कोई आततायी दुराचारी या प्रवचनोहर किसी आचार्य, सघ आदि का वध करना चाहता है किसी साध्वी का अपहरण करना चाहता है या चैत्य आदि की सम्पति को लूटना चाहता है ऐसे आततायी व दुराचारी का साधु स्वय वध भी

---

१ हसो पक्खो भण्णति, सो फाडेऊण मुत्त पुरीसाणि णीहरिज्जति, ताहे सो हंसो दव्वाण भरिज्जति ताहे पुनरवि सो सीविज्जति तेण सहदव्वेण तेल्ल पच्चति त हसतेल्ल भण्णति। आदि सद्दातो सतपाग-सहस्सपागा य तेल्ला घप्पन्ति। एवमादियाए दव्वाए आभिओगादी पुत्रक्रमेण ग्रहणं कतव्यमिति।
—निशीयसूत्र चूर्णिका पूव पीठिका गाथा ३४८

२ जावतिया उवउज्जति पमाण-गहणे व आव पज्जत्तं।
मतेऊण य विघइ पुत्तल्लगमादि पडिणीए॥
जो साहु-संघ-चेतित पडिणीतो तस्स पडिमा मिम्मया णामंकिता कज्जति, सा मतेणाभिमतिऊण ममदेसे विन्धति ततो तस्स वयणा भवति मरति वा, एतेण कारणेणं पुत्तलय पि पडिणीय मद्दण णिमित्तं कज्जति वडिय वशीकरण णिमित्त वा कज्जति।

करे तो भी वह विशुद्ध ही है अर्थात् हिंसक नहीं है।[1]

कोंकण देशीय साधु द्वारा तीन सिंहों की हिंसा

एक बार एक आचार्य अपने श्रमण समुदाय के साथ विहार कर रहे थे। किसी दिन सारे साधु संघ को भीषण जंगल में प्रवास करना पड़ा। संघ में एक कोंकण देश का साधु था। वह अत्यन्त बलशाली था। रात को संघ की रक्षा का भार उसे सौंपा गया। उसने आचार्य से पूछा हिंस्र पशु का प्रतिकार बिना कष्ट पहुँचाए ही किया जाए या कष्ट पहुँचा करके भी? आचार्य ने कहा यथासम्भव बिना कष्ट पहुँचाए ही किया जाए पर सम्भव न हो तो दूसरे प्रकार से भी। रात में उस कोंकण देशीय साधु को तीन सिंह मार डालने पड़े। प्रातः उस हिंसा के प्रायश्चित्त की चर्चा चली और वह हिंसक साधु शुद्ध माना गया।[2]

---

१ आयरिय कोइ पडिणीयो विणासेउमिच्छति सो जइ अण्णहा ण ट्ठाति तो से ववरोवणं वि सुज्जा। एव गच्छयाए वि। बोहिगतणे यति जे मेच्छा, माणुसाणि हरति ते बोहिगतेणा भण्णंति। एते आयरियस्स वा गच्छस्स वा वहाए उवट्ठिता। व सहाता कोति संजति बला धत्तुमिच्छति चति पाए वा चतियदव्वस्स वा विणासं करेइ। एव ते सव्वे अणुमन्ठीए अन्टायमाणा ववरोवेयव्वा। आयरियमादीणं णित्थारणं कायव्व एव करेंतो विसुद्धो।

—निशीथसूत्र चूर्णि पीठिका गाथा २८९

२ एगो आयरिओ बहुसिस्सपरिवारो उ सज्झकालसमये बहुसावय अडवि पवण्णो। तमि य गच्छे एगो दढसंघयणो कोंकणगसाहू अत्थि। गुरुणा य भणिय—अह अज्जो! ज एत्थ वग्ठसावय किं वि गच्छ अभिभवति त णिवारेयव्व ण उवेहा कायव्वा। ततो तेण कोंकणगसाहुणा भणिय—कह? विराहितेहिं अविराहितेहिं णिवारेयव्व? गुरुणा भणिय—जइ सक्कइ तो अविराहितेहिं पच्छा विराहितेहिं वि ण दोसो। ततो तेण कोंकणगेण सविय सुत्तय सीसत्था अह भे रक्खिस्सामि'। तो साहवो सव्वे सुत्ता। सो एगागी जागरमाणो पासति सीह आगच्छमाणं। तेण हडि त्ति भणिय ण गतो। ततो पच्छा उट्ठाइऊण सणिय लगडेण आहतो गओ परिताविओ। पुणो आगन पेच्छति तेण चिंतिय ण सुट्ठु परिताविओ तेण पुणो आगओ पुणो गाढयर आहतो। पुणो वि ततियवारा एव चव णवर सव्वायामेण आहतो गता रातो। खेमेण पच्चूसे गच्छता पेच्छति सीह

ब्राह्मणों का सामूहिक वध

एक बार एक राजा ने जैन साधुओं से कहा सभी जैन साधु ब्राह्मणों के चरणों लगें। नहीं तो वे देश से निकल जाएं। सारा संघ एकत्रित हुआ, आचार्य ने सबको आह्वान किया—कोई साधु किसी भी उपक्रम से शासन की प्रभावना बढ़ा सके तो बढ़ाए। एक साधु ने यह चुनौती झेली। वह राजसभा में गया और राजा से बोला आप सब ब्राह्मणों को एकत्रित कर दीजिए। हम उन्हें नमस्कार करेंगे। राजा ने वैसा ही किया। साधु ने एक कनेर की लता को अभिमन्त्रित कर सब ब्राह्मणों का सिर काट डाला। संघ हितार्थ होने के कारण इस कार्य को भी विशुद्ध माना गया।[1]

अपवाद-संयोजन में भाष्यकार और चूर्णिकारों का योग

भाष्य और चूर्णियों में इस प्रकार अहिंसा धर्म सम्बन्धी अनेकानेक अपवाद

अणुपथे मग्ग पुणो अद्धरे पच्छति बितिय, पणो अदूरते ततिय। जो सो दूरे सो पढम लणिय आहओ जो वि मज्झ सो बितिओ, जो णियड सो चरिमो गाढ आहतो भतो। तए कोंकणएण आलोइयमारिधाण सुद्धो। एवं आयरियादीकारणेसु वावादितो सुद्धो। गता पाणातिवायस्स दप्पिया कप्पिया पडिसेवणा। गतो पाणातिवातो।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा २८९

1 एगेण रातिणा साधवा भणिता धिज्जाइयाण पादेसु पडह। सो य अणुसट्ठीहिं ण ठाति। साहू सघसमवातो कतो। तत्थ भणिय जस्स काति पवयणुब्भावणसत्ती अत्थि सो तं सावज्ज वा असावज्ज वा पउंजउ।' तत्थ एगेण साहुणा भणिय— अहं पयुंजामि। ततो सघो रायोगो समीव गतो भणिओ य राया 'जति धिज्जाइयाण अम्हेहिं पाएसु पाडियव्वं तेसिं सम वाय देहि तेसि सपराह अम्ह पायेसु पडामो णो य एगेगस्स। तेण रण्णा तहा कय। सघो एगपासे ठितो। सो य अतिसयसाहू कणवीरलय गहेऊण अभिमतेऊण य तेसिं धिज्जाइयाण सुहासणत्थाण त कणवीरलय घडलय व घडलिवदगागारेण भमाडतो। तक्खणादेव तेसिं सव्वेसिं धिज्जातियाण सिराणि णिवडियाणि। ततो साहू रुट्ठो रायाण भणति भो दुरात्मन्! जति ण ठह सि तो एव ते सबलवाहण चुण्णमि। सो राया भीतो सघस्स पाएसु पडितो उवसतो य। जहा सोवि राया तहेव चुण्णतो। एय पवयणत्थे पडिसेवंतो विसुद्धो।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा ४८७

मार्ग मिलते हैं। यह ठीक है आगमों की अक्षरश: व्याख्या पर समग्र आचार व्यवहार प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। व्याख्याओं स्पष्टीकरणों एवं विवेचनों की अपेक्षा होती है किन्तु उन सबका यह तात्पर्य नहीं होता कि हम मूल को छोड़कर कहां के कहां चले जाएं। यह स्पष्ट है कि भाष्यकारों व चूर्णिकारों ने इस ग्रंथ में बहुत ही स्वराचार बरता है। कहां भगवान् महावीर की क्षमा, तितिक्षा व मैत्री प्रधान जीवन चर्या और कहां ये रोमांचित कर देने वाले हिंसापरक उदाहरण। संगम देव ने आकर भगवान् श्री महावीर को बीस[1] मारणान्तिक परिषह दिए। छद्मस्थावस्था में अनार्य और म्लेच्छ लोगों ने नाना यातनाएं दीं। गोशालक ने उनके देखते देखते सर्वानुभूति और सुनक्षत्रमुनि को तेजोलेश्या से भस्म कर डाला। स्वयं भगवान श्री महावीर को तेजोलेश्या से परिक्लान्त किया।[1] क्या भगवान् महावीर ने कभी उन प्रत्यर्थियों की हिंसा के लिए भी किसी अपवाद मार्ग का विधान किया? चण्डकौशिक के ममाघात और ग्राम्यजनों द्वारा किये गये कर्णगत-कीलिका रोपण पर क्या भगवान् में एक क्षण के लिए भी प्रतिहिंसा जागृत हुई? कहां वह क्षमा और तितिक्षा प्रधान जैन-संस्कृति जिसमें गजसुकुमाल, खंधक, मेतार्य प्रभृति मुनियों के शान्त व सौम्य आचार और कहां ये प्रतिशोध मूलक विधि विधान? सब बात तो यदि है कि वह युग जैनधर्म के लिए जीवन और मरण का प्रश्न बनकर रहा है। समय-समय पर होने वाले वैदिकों और बौद्धों के हिंसक आक्रमणों में जैनधर्म विरोधी राजाओं के कठोर शासन में प्रकम्पित और भयंकर दुर्भिक्षों में अरण्य प्रधान और अनार्य प्रधान देशों के पाद विहारों में जैनधर्म और जैन श्रमण संघ को बचाए रखना अवश्य एक दुष्कर अनुष्ठान था। लगता है सम्प्रदाय प्रतिस्पर्धा के उस वातावरण में ही इस प्रकार के विधि विधानों का निर्माण हुआ है। आज की परिस्थितियों में उक्त विधि विधान जितने अभद्र लगते हैं, उन परिस्थितियों में सम्भवत वे वैसे न लगे हों। कुछ भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा, अहिंसा सिद्धान्त के साथ यह न्याय नहीं हुआ है।

अब्रह्म सेवन व प्रायश्चित्त विधान

छद्मस्थ मुनि परिस्थितिवश नाना दोषों का सेवन कर लेता है। भगवान् श्री महावीर ने मूल निशीथसूत्र में इसके लिए नाना प्रायश्चित्त बतलाए हैं। यदि यहां भी ऐसा ही माना गया होता तो अहिंसा सिद्धान्त की निर्मम हत्या नहीं

१ कल्पसूत्र व्याख्या
२ भगवतीसूत्र शतक १५

होती। हिंसा करना और उसे अहिंसा मानना यह दोहरा पाप है। चूर्णिकारों और भाष्यकारों ने इस विषय में चिन्तन ही न किया हो ऐसी बात नहीं है। अपवाद मार्ग में हिंसा सेवन की तरह अब्रह्म-सेवन का विचार भी चला है। ब्रह्मचारी साधुओं के सम्मुख ऐसे प्रश्न आए होंगे या आने सम्भावित माने गए होंगे कि राजा के अन्त पुर में पुत्रेच्छा से किसी साधु को अब्रह्म सेवन के लिए विवश किया जाए और उसे यह बताया जाए तुम अब्रह्म का सेवन करके ही सकुशल यहां से जा सकते हो नहीं तो तुम्हें प्राणदण्ड भोगना होगा। ऐसी परिस्थिति में साधु वश अब्रह्मचर्य का सेवन करता है। दूसरा प्रसग तरुण साधु शीलभग करना भी नहीं चाहता और वासना पर विजय पा लेना भी सम्भव नहीं मानता ऐसी स्थिति में कम-से-कम दोष लगाकर वह अपने सयम का निर्वाह सोचता है। तथा प्रकार के मुमुक्षु प्रायश्चित्त के भागी हैं या नहीं यह विषय भी बहुत प्रकार से भाष्य और चूर्णियो में सोचा गया है। उस चिन्तन का अन्तिम निष्कर्ष यह होता है कि हिंसा आदि का सेवन राग और द्वेष से रहित रहकर भी किया जा सकता है परन्तु अब्रह्मचर्य का सेवन रागादि रहित स्थिति मे सम्भव नही है इसलिए अब्रह्म का सेवन कैसी ही परिस्थिति म हो उसकी कितनी ही यत्नापूर्ण प्रतिसेवना हो शुद्धि के लिए न्यूनाधिक प्रायश्चित्त तो लेना ही होगा।[1] यह जितना यथार्थ है कि अब्रह्मचर्य का सेवन रागादिभाव लाए बिना सम्भव नही है उतना ही द्वेषादिभाव लाए बिना किसी मनुष्य या हिंस्र पशु के वध में प्रवृत्त होना यह भी सम्भव नहीं है पर तात्कालीन आचार्यों के चिन्तन म यह क्यों नही आया अवश्य एक आश्चर्य है। हो सकता है महत् पुण्य का प्रलोभन हुए बिना मुमुक्षु त्याग तथा कथित हिंसाजन्य शासन प्रभावनाओं के लिए प्रस्तुत न होते हो और वैसे अवसर अधिक आते हो अपेक्षाकृत अब्रह्म सेवन की विवशताओं के। इसलिए प्रायश्चित्त की अनिवार्यता अब्रह्म के प्रसग से आवश्यक मानी गई हो और हिंसादि आस्रवो के प्रसग से आवश्यक नहीं मानी गई हो। इस प्रकार भगवान् श्री महावीर से लेकर विगत दो सहस्र वर्षों मे आचार्यों और साधुओं ने अप

---

१ क—गीयत्थो जतणाए, कडजोगी कारणमि णिद्दोसो।
एगेसि गीत कडो अरत्तऽदुट्ठो उ जतणाए॥
जइ सव्वसो अभावो, रागादीणं हवेज णिद्दोसो।
जतणाजुतेसु तेसु अप्पतर होति पच्छित्त॥
—निशीथसूत्र भाष्य गाया ३६६ ६७

ख—बृहत्कल्प भाष्य गाथा ४६४६ ४७

वादों के नाम पर अहिंसा को केवल कलेवर मात्र बना लिया। जब हम इन बड़े अपवादों की चर्चा कर आए हैं तो साध्वाचार के सामान्य नियमों में अपवादों के नाम पर कितना शैथिल्य आया होगा यह सहज ही कल्पना में आ सकता है। वहां भी अहिंसा कितनी जर्जरित हुई होगी यह वर्णन का विषय नहीं रह जाता।

आचारांग सूत्र में भगवान् श्री महावीर कहते हैं—धर्म के लिए हिंसा करने में कोई दोष नहीं है यह अनार्य-वचन है।[1] प्रतिमा के लिए पृथ्वीकाय की हिंसा करने वालों को उन्होंने मन्द बुद्धि कहा। तब धर्म प्रभावना के नाम पर होने वाले सूक्ष्म या स्थूल हिंसाजन्य कार्य भगवान श्री महावीर की अहिंसा के अंग हो सकते हैं यह सोचा ही नहीं जा सकता।

अहिंसा विभक्ति का दूसरा कारण

पुण्य मान्यता का हेतु

भगवान श्री महावीर की अहिंसा उपक्रम में निवृत्ति प्रधान थी। उसमें केवल अपना और दूसरे का आत्महित चिन्तन ही प्रमुख था। आत्मा के उन्नयन और आत्मा के ऊर्ध्व संचार की ही वहां चिन्ता थी और आत्मगत यथायोग्य कर्मों से रहित होना और रहित करना ही मोक्ष था। लौकिक अभ्युदय पुण्य प्रधान होने से धर्मानुगत था पर धर्माचरण का उद्देश्य नहीं। भगवान् श्री महावीर के पश्चात् गीता का कर्मयोग और बौद्ध महायानों का सामुदायिक मोक्षवाद आदि ज्यों ही जोरों से फैले जैन परम्परा भी उनसे प्रभावित हुए बिना कैसे रहती? भूखे को भोजन देना प्यासे को पानी पिलाना और दुखियों के दुख को दूर करना यह एक ऐसा विचार था, जो सामाजिक अपेक्षाओं का भी मुख्य अंग था और जब इसे मोक्षाराधन का स्वरूप भी मिल गया तो उसका समाज के द्वारा व्यापक रूप से अपनाना सहज ही था। वह युग अध्यात्म चर्चा का था। विभिन्न धर्मों में व्यवस्थित शास्त्रार्थ हुआ करते थे। हरेक धर्म के लोग अपने को श्रेष्ठ और दूसरों को निकृष्ट बताते। बहुत सम्भव है जैनधर्म को न्यून बतलाने का उसी युग में मोक्ष चिन्ता और लोकैषणा का यह भेद ही प्रमुख उद्घोष बन गया हो। इसी विवशता

---

१ आचारांगसूत्र

२ प्रश्नव्याकरणसूत्र प्रथम अध्ययन

में जैनाचार्यों को लोकैषणा और शिवैषणा को जोड़ने के लिए पुण्य रूप कड़ी का आविष्कार करना पड़ा हो। जैन शास्त्रों में यह अवकाश नहीं रख छोड़ा था कि उन्हें निराधार करते हुए सामाजिक और व्यावहारिक क्रिया-कलापों को सीधे सीधे धर्म का रूप दिया जा सके।

असंयति दान व अनुकम्पा दान

जैन तत्त्व निरूपण के आधार पर पुण्य शुभयोगजन्य और निर्जरा का सहभावी है।[1] पुण्य और निर्जरा की क्रिया एक है। पुण्य-बन्ध की कोई स्वतन्त्र क्रिया भी हो सकती है यह धारणा जैन-परम्परा में नहीं थी परन्तु इस युग प्रवाह के साथ संगत होने के लिए आगे चलकर आई। अणुकम्पादाणं पुण जिणेहिं न कयाई पडिसिद्धं[2] अनुकम्पा दान का भगवान् ने कहीं निषेध नहीं किया। अनुकम्पा दो प्रकार की है—अन्नादि दानरूप द्रव्य और धर्म-मार्ग प्रवर्तन रूप भाव।[3] व्यावहारिक अनुकम्पा को आचार संगत करने के विषय में मतभेदमूलक चर्चाएं भी हुई हैं। पूर्व पक्ष ने कहा—दीन अनाथ व्यक्ति असंयत हैं इसलिए उन्हें दान देना दोष पोषक होने से असंगत[4] है अर्थात् धर्म पुण्य का हेतु नहीं है। उत्तर पक्ष का यह आग्रह रहा—साधारणतया यह यथार्थ है कि असंयति दान धर्म तथा धर्म-पुण्य का हेतु नहीं बनता किन्तु अनुकम्पा-दान इसका अपवाद है। यह शुभाशयजन्य होने से पुण्य-बन्ध का कारण है।

पुण्य निष्पत्ति के कारण

उत्तर पक्ष के विषय में यह निस्संकोच कहा जा सकता है यह सामयिक लोक प्रवाह का अनुगमनमात्र ही था। जैन आगम इस विषय में स्वयं स्पष्ट हैं। वहां पुण्य सम्बन्धी जितने उल्लेख मिलते हैं वे या तो पुण्य को निर्जरा का

---

१ तच्च धर्माविनाभावि। सत्प्रवृत्त्या हि पुण्यबन्धः सत्प्रवृत्तिश्च मोक्षोपायभूतत्वात् अवश्यं धर्मः अतएव धर्माविनाभावि पुण्यं, यतः तद् धर्मं विना न भवति।

—श्री जैनसिद्धान्तदीपिका चतुर्थ प्रकाश, सूत्र १४

२ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका २७

३ सा चानुकम्पा द्रव्यभावाभ्यां द्विधा द्रव्यतः अन्नादि दानेन, भावतः धर्ममार्ग प्रवर्तनेन।

—धर्मरत्न प्रकरण

४ दीनानामसंयतत्वात् तद्दानस्य दोषपोषकत्वादसंगतं तद्दानम्।

—स्थानांग ६

सहभावी सिद्ध करते हैं या उसे सत्प्रवत्तिजन्य। एक भी उल्लेख ऐसा नहीं मिलता जहां निर्जरा की उद्भावक सत्प्रवृत्ति न हो और केवल पुण्य निष्पन्न हुआ हो। अठारह पापों का सेवन न करने से कल्याणकारी कर्मों (पुण्य) का बन्ध होता है।[1] गुरु वन्दन से नीच गोत्रकर्म का क्षय होता है और उच्च गोत्र कर्म का बन्ध होता है।[2] धर्म-कथा से निर्जरा होती है धर्म प्रभावना होती है और उससे शुभ कर्मों का बन्ध होता है।[3] आचार्य आदि की सेवा करता हुआ साधु तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म उपार्जन करता है।[4] प्राण हिंसा न करने से, असत्य न बोलने से व शुद्ध साधु को दान करने से शुभ दीर्घ आयुष्य का बन्धन होता है।[5] बहुत सारे

---

१ कहण्ण भंते ! जीवाणं कल्लाण कम्मा कज्जति ? कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुण्णं थालो पाग सुद्ध अट्ठारस वजणा उल भोसह मिस्सं भोयणं भुंजेज्जा तस्सणं भोयणस्स आवाए नो भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणममाणे सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए जाव सुहत्ताए नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ। एवामेव कालोदाई ! जीवाण पाणाइवायवेरमण जाव परिग्गहवेरमण कोह विवेगे जाव मिच्छादसणसल्लविवेगे तस्सण आवाए नो भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणममाण परिणममाण सुरूवत्ताए जाव नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ। एव खलु कालोदाई ! जीवाण कल्लाण कम्मा जाव कज्जति।

—भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक १०

२ वदणएण भंते ! जीवे किं जणयइ ? वदणएण नीयागोय कम्म खवेइ उच्चा गोय कम्म निबधइ, सोहग्ग च ण अपडिहय आणा फल निवत्तइ दाहिणा भाव च ण जणयइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २६

३ धम्म कहाएण भंते ! जीवे किं जणयइ ? धम्म कहाएण निज्जर जणयइ। धम्म कहाएण पवयण पभावइ पवयण पभावेण जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्म निबधइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २६

४ वेयावच्चेण भंते ! जीवे किं जणयइ ? वेयावच्चेण तित्थयर णाम गोत्त कम्म निबधइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २६

५ कहण्ण भंते ! जीवा सुभ दीहाउयत्ताए कम्म पकरति ? गोयमा ! नो पाणे अइवाएत्ता नो मुस वइत्ता तहारूव समण वा माहण वा वदित्ता जाव पज्जु

प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों को दु ख न देने से, शोक उत्पन्न न करने से, विलापन न कराने से, अश्रुपात न कराने से तर्जन न करने से, परिताप न पहुचाने से साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।[1] उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है अनुकम्पा प्राणियों की अनुकम्पा के सम्बन्ध से जो पुण्य-बन्ध का विधान है वह अनुकम्पा दु ख न देने रूप है। वहां केवल आत्म सयमरूप शुभयोग की प्रवृत्ति है। जहां वन्दन वैयावृत्य आदि प्रवृत्तियां हैं उनका सम्बन्ध आचार्य आदि समति आत्माओं से है।

अनुकम्पा दान व धर्म दान

दस प्रकार के दानों में एक अनुकम्पादान भी है।[2] पर उसमें धर्म या पुण्य होने का कोई उल्लेख शास्त्रों में नहीं है। यह दान की दसों समाधा म स्वत प्रतिभासित होता है। वहा केवल दानमात्र के दस हेतुओं का बताया गया है। वेश्या आदि को दिया जाने वाला अधर्म दान और लज्जा दान भय दान आदि भी उन दस भेदों में हैं। धर्म दान के तीन भेद किये गए हैं—अभय दान बोधि दान सुपात्र दान। दस दानों में पारमार्थिक दान केवल धर्म दान है शेष लौकिक हैं। धर्म व पुण्य के हेतु नहीं हैं। पुण्य नौ प्रकार का कहा गया है—आहार पुण्य पानी पुण्य स्थान पुण्य, शय्या पुण्य, वस्त्र पुण्य मन पुण्य वचन पुण्य काय पुण्य नमस्कार पुण्य।[3]

कालेसा अण्णयरेणं मणुण्णेणं पीइकारएण असण पाण खाइम साइम पडिला भित्ता एव खलु जीवा जाव पकरंति।

—भगवतीसूत्र शतक ५, उ० ६

१ पाणाणुकपयाए भूयाणुकपयाए जीवाणुकपयाए, सत्ताणुकपयाए बहूण पाणाण जाव सत्ताण अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टिणयाए अपरियावणयाए।

—भगवतीसूत्र शतक ७ उ० ६

२ अणुकपा सगहे चव भया कालणि एतिय।
लज्जाए गारवणं च अधम्मेय पुण सत्तमे॥
धम्मे अट्ठमे वुत्त काहिइय कयति य॥

—ठाणांग सूत्र ठा० १०

३ नव विहे पुण्णे पन्नते तजहा अण्णपुण्ण पाणपुण्ण लेणपुण्ण सयणपुण्ण वत्यपुण्ण मणपुण्णे वयपुण्णे कायपुण्ण णमोक्कारपुण्णे।

—ठाणांग सूत्र ठाणा ९

नो प्रकार म पुण्यों की यह शब्द सकलना स्वय बोलती है, सयमी पात्र को दिया गया दान ही पुण्य व धर्म का हेतु है। नहीं तो इस शब्द सकलना मे गौदान[1] पुण्य, अश्वदान पुण्य आदि अनेक पुण्यो को स्थान दिया गया होता, किन्तु यह न होकर केवल सयति के द्वारा ग्राह्य होने वाले आहार, पानी, वस्त्र आदि पदार्थों का उल्लेख किया गया है। भगवती सूत्र म असयति दान को एकान्त[2] पाप का कारण तथा सयति दान को एकान्त निर्जरा[3] का हेतु बतलाया गया है।

कुछ भी हो, इन सारे शास्त्रीय विधानो की उपेक्षा करके भी प्रवृत्तिमूलक धारणाएं जन परम्परा म आगे बढ़ी और आज भी वे अधिकाश जन शाखाओं मे मान्य हो रही हैं। जन परम्परा के इस इतिहास म उल्लेखनीय बात तो यह रही है कि वह परम अध्यात्ममूलक होने के कारण तथाप्रकार की लोकोपकारक प्रवृत्तियों को दो सहस्र वर्षों के प्रतिकूल प्रवाह म बहकर भी विशुद्ध धर्म और विशुद्ध अध्यात्म के अन्तगत मानने के लिए तयार नहीं हुई। पुण्य कहकर तो उसने उक्त प्रवृत्तियों को श्रेय की ओर जाने वाले पथिक के लिए स्वर्ण शृखलारूप बन्धन ही

---

1 साधू बिन जो अन्य प्रते, दीधां पुण्य जो होय।
तो गाय पुण्य किम नवि कह्यो, भैस पुण्य पिण जोय॥
सवरण पुण्य रूपो पुण्य, हीरो पुण्य उदार।
मोती ने माणिक पुण्य, रीति पुण्य विचार॥
इत्यादिक मुनिवर भणी नहीं कहये ज बोल।
सूत्र विष ते नवि कह्या देखोजी दिल खोल॥

—प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध दानाधिकार दूहा १५२ से ५४

2 समणोवासगस्सण भंते! तहारूव असजय अविरय-पडिहयपच्चक्खायपावकम्मं फासुएण वा, अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण पाण० जाव किं कज्जइ? गोयमा! एगतसो से पाव कम्मे कज्जइ नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ।

—भगवतीसूत्र शतक ८ उ० ६

3 समणोवासगस्सण भंते! तहारूव समण वा माहणं वा फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा असण-पाण खाइम साइमेण पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ? गोयमा! एगतसो निज्जरा कज्जइ नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ।

—भगवती सूत्र शतक ८ उ० ६

माना।[1] यह किसी भी जन शास्त्र म नहीं माना कि समारम्भ प्राणियों का भौतिक साधन प्रसाधनों स दहिक दुःख मोचन कर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सगा।

जनाचार्यों द्वारा लोक प्रवाह को मोड

लोक प्रवाह के साथ जन परम्पराए अवश्य चल पड़ी किन्तु समय-समय पर चिन्तनशील आचार्य अपने उद्गारो म तत्सम्बन्धी यथार्थ स्थिति को भी प्रकट करते रहे हैं। दिगम्बर आचार्य अमितगति कहते हैं— जो असयतात्मा को दान देकर पुण्यरूप फल की आकांक्षा करता है वह जलती आग म बीज फेंककर धान पैदा करना चाहता है।[2]

आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं— यह असि म स कृषि आदि व्यवस्था का प्रवतन सावद्य—सपाप है फिर भी स्वामी ऋषभदेव ने अपना कतव्य जानकर इसका प्रवतन किया।[3]

अभयदान की व्याख्या करते हुए कहा गया है—मन स वचन से और कम से जीव हिंसा न करना न कराना और न उसका अनुमोदन करना, जीवों के जीवन पर्याय का नाश न करना उन्हें दुःख या सक्लेश न दना अभयदान है।[4]

माता पिता की सवा क सम्बन्ध स कहा गया है—निश्चय नय की दृष्टि स माता पिता आदि का विनय करना रूप सततास्यास म सम्यग् दशन आदि की

---

१ मुह्यसि मोहाद् रे ! यदपि यतात्मनां भवन्ते शुभकर्माणि।
काञ्चननिगडांस्तान्यपि जानीयाद्धतनिवृति शर्माणि॥
—शान्तसुधारस आश्रवभावना गाथा ७

२ वितीय यो दानमसयतात्मने जन फल काक्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीय बीज ज्वलिते स पावके समीहते शस्यमपास्तदूषणम्॥
—अमितगति श्रावकाचार ११वां परिच्छेद

३ एतच्च सव सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवतयामास, जानन कतव्यमात्मन ॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् १।२।९७१

४ भवत्यभयदानं तु जीवानां वधवजनम्।
मनोवाक्काय करण कारणानुमतरपि॥
तत्पर्यायक्षयाद् दुःखोत्पादात् सक्लेशतस्त्रिया।
वधस्य वजन तेष्वभयदानं तदुच्यते॥
—ऋषभ चरित्र १५७ १९९

आराधना नही होती इसलिए वह धर्म का अनुष्ठान नही है। व्यवहार नय, स्थूल दृष्टि या लोक दृष्टि से वह युक्त है।[1]

लोकाशाह द्वारा मोक्षाभिमुख अहिंसा पर बल

इस प्रकार समय समय पर होने वाले स्फुट उद्गारो से वह लोकाभिमुख प्रवाह जरा भी रुका हो, ऐसा नहीं लगता प्रत्युत प्रकाश की ये चिनगारियां क्षणिक आभास के साथ विलीन ही होती गई। अब से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व और वीर निर्वाण के लगभग इक्कीस सौ वर्ष पश्चात् जन-परम्परा में लोंकाशाह ने फिर से मोक्षाभिमुख अहिंसा और धर्म का उद्घोष उठाया। आगमिक आधारों पर उन्होने स्पष्टरूप से कहा—साता देने से साता होती है ऐसा कहने वाले आर्य मार्ग से पृथक हैं समाधि मार्ग से दूर हैं जिन मार्ग की निन्दा करने वाले हैं, अमोक्ष के कारण हैं तुच्छ सुखो के लिए बहुत सुखो को गमाने वाले हैं और भविष्य मे लोह वणिक की तरह पश्चाताप करने वाले होंगे।[2]

जिस क्रिया मे किंचित भी हिंसा नही है वही ज्ञान का सार है।[3] इन्द्रिय भोगों का धर्म बुरा होता है। जिस प्रकार तालपुट जहर खा लेने से, अविधि से शस्त्र-ग्रहण करने से कुविधि से मन्त्र जाप करने से मनुष्य मृत्यु प्राप्त करता है, वसे ही इन्द्रियज विषयो को धर्म कहने वाला जन्म और मृत्यु के परिभ्रमण को बढाता है।[4]

---

१ निश्चयनययोगेन, निश्चयनयाभिप्रायेण यतो मातापित्राहि विनयस्वभावे *सतताभ्यासे सम्यक् दर्शनाऽऽध्यनाऽऽराधनारूपे धर्मानुष्ठानं दूरापास्तमेव।*
—धर्म अधिकरण

२ कोई इम कहै साता दियां साता होय, तिण ऊपर भगवान छव बोल प्ररूप्या—१ आर्य मार्ग से बेगलो, २ समाधि मार्ग से न्यारो, ३ जिन धर्म री हेलणा रो करणहार, ४ अमोक्ष रो कारण ५ थोडा सुखां रे कारणे घणा सुखा रो हारणहार, ६ लोह वाणिया नी परे घणो झूरसी। सा० सू० सूयगडाग अ० ३ उद्देशो ४ गाथा ६।
—लोंकेजी की हुण्डी बोल ४७वां

३ जिस करणी में किंचित मात्र हिंसा नहीं ते करणी ज्ञान री सार कही। सा० सू० प्र० सूयगडांग अध्ययन १ उ० ४ गाथा १०वीं।
—लोंकेजी की हुण्डी बोल २२वां

४ विषय सहित धर्म बुरो जिम तालपुट जहर खायां कुरीति से हाथ में शस्त्र लियां कुविधि मन्त्र जपियां मरण पामें तिम इन्द्रिय विषय

उनहत्तर बोलो की लोकाशाह की हुण्डी जिसमें हरएक बोल के साथ आगम पाठ का प्रमाण दिया गया है उनकी मान्यता का आधार बनती है। लोकाशाह की मान्यता के आधार पर नूतन श्रमण-संघ गठित हुआ और अध्यात्मपरायण धारणाओं को सुस्थिर करने के लिए लोक प्रवाह के सामने खडा रहा, किन्तु यह क्रान्ति चिरस्थायी नही हो सकी और अनुयायी शाखाए उसी लोक प्रवाह में जा पडीं। यह विशेषता की बात है लोकाशाह तीनो ही श्वेताम्बर सम्प्रदायो में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं और उनके मत को अपने अपने प्रकारो से किसी न किसी सीमा तक अवश्य मानते हैं।

अहिंसा स्वरूप का विकास या विपर्यास ?

साहित्य में रागात्मक तत्त्वों का आविर्भाव

उपनिषदो आगमो एव त्रिपिटको की निवृत्तिप्रधान और मोक्षाभिमुख मौलिक धारणाओ से होने वाला यह विपर्यास इतना स्पष्ट था कि उससे सभी क्षेत्र प्रभावित हुए। इसका प्रभाव धर्म और दर्शन के क्षेत्र में ही न रहकर साहित्य के क्षेत्र में भी आया और रागात्मक तत्त्वो के आविर्भाव से साहित्य उपवन सरस समझा जाने लगा। हिन्दी-साहित्य के विकास क्रम में बताया गया है—इस प्रकार पन्द्रहवा शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी साहित्य में उस परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ जिसमे वैयक्तिक साधना का लोककल्याणकारी वृत्तियो के साथ सुन्दर सामजस्य हुआ। अभी तक हिन्दी का साहित्य अधिकाशत प्रशस्तिगान तथा परम्परागत काव्य रूढियो पर ही आधारित था, परन्तु सन्त परम्परा के उद्भव से साहित्य में एक नये लक्ष्य व नये जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति हुई।

कर्म के साथ ज्ञान का सामजस्य करने के लिए वेदान्त का सहारा लिया गया।[1] लोकोत्तर प्रधान धर्म में लौकिक चिन्ता का उद्भव मानव स्वभाव के किन रागात्मक हेतुओ से हुआ इसका भी व्यवस्थित चिन्तन हिन्दी साहित्य के इतिहास में मिलता है। ज्ञान तथा योग के नीरस उपदेशात्मक कथन, शून्य में व्याप्त अमूर्त ब्रह्म तथा हठयोग द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त यद्यपि जनता की प्रवृत्तिया को भौतिक सघर्ष से हटाकर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने में सर्वथा

सहित धर्म प्ररूपे ते घणा जन्म मरण वधाव। सा० सू० उत्तराध्ययन अ० २० गाथा ४४

—लोकेजी की हुण्डी बोल ३६वां

1 भारतीय वाङ्मय पृ० ५४२

असफल नहीं रह पर जीवन के कठोर सत्यों के बीच उन अमूर्त और जीवन से असम्बद्ध सिद्धान्तों पर निर्भर रहना कठिन ही नहीं असम्भव था। निगुण साधना की कठोरता म जनता को अपनी विषमताओं का समाधान नहीं मिल सका क्योंकि उसम जीवन के आधारभूत तत्त्वों का निषेध अथवा अभाव था। निगुण पन्थी सन्तों ने भौतिक जीवन के नैराश्य का समाधान इन्द्रियों के दमन और कामनाओं के हनन म पाने का प्रयास किया पर जनता तो ऐसा आश्रय प्राप्त करना चाहती थी जहां वह अपने मन का अवसाद उडेल सके जिसके चरणों म सवस्व समर्पित कर अपने भौतिक जीवन के अभिशाप को वरदान मे परिणत कर सके। अनुराग मानव हृदय का प्रबल पक्ष है। अनुराग और ज्ञानमूलक-साधना का सामंजस्य हो सकता है पर तादात्म्य नहीं। निगुण पन्थी सन्तों ने हृदय के अनुराग का पूरक मस्तिष्कजन्य साधना को बनाना चाहा और यहीं वे असफल रहे। सगुण मतवादी भक्तों ने मन की वृत्तियों को जो लौकिक जीवन मे अतृप्त रहने के कारण विक्षिप्त हो रही थी राम और कृष्ण के रूप का वह आधार प्रदान किया जिसके द्वारा भौतिक विषयों की भोक्ता इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्प्रारम्भ स भगवान म लग गई। एक ओर मर्यादापुरुष राम के चरित्र में अनेक आदर्शों की स्थापना की गई और दूसरी ओर लीलापुरुष कृष्ण के मनोरंजक रूप का अंकन किया गया।[१]

साहित्य से राष्ट्रीय जागति के क्षेत्र मे

अहिंसा और धम के इस स्वरूप विपयय का अन्याय क्षेत्रों म भी स्वागत हुआ। राष्ट्रीय जागति के साथ वह और भी बल पा गया। राष्ट्र और समाज के नवनिर्माण की पहल पहल म सहयोगी होकर यही विपयय विकास का लिताब पा गया। महात्मा गांधी विशेष रूप स उसके भागी बने। प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी का कहना है—गांधीजी पर कुछ लोगों का यह आक्षेप एक तरह से गलत नहीं है कि उन्होंने भारतीय समाज को निवत्ति माग स विमुख कर ससार के प्रति आसक्त कर दिया। लेकिन सचाई यह है कि समाज म अहिंसा उतने ही प्रमाण मे टिक सकती है जितने प्रमाण मे प्रवतक धम अर्थात समाजोपयोगी काम चलेंगे। निवतक धम स समाज की बुराइयां दूर की जा सकती है परन्तु उनम अच्छाइयों की वद्धि नहीं हो सकती। गांधीजी ने त्याग, तपस्या और बलिदान रूप निवतक धम क साथ-साथ प्रवतिरूप अहिंसा का भी प्रतिपादन किया और उसी के द्वारा

---

१ भारतीय वाङ्मय पृ० ५४७

राष्ट्र की समस्याओं का हल किया। अनासक्तिमूलक प्रवृत्ति निवृत्ति ही अहिंसा के विकास का अब तक का सर्वश्रेष्ठ रूप प्रतीत होता है। गांधीजी के आदर्श को लेकर चलने वाले आश्रम में निवृत्तिरूप अहिंसा के साथ प्रवृत्ति भी जुड़ी हुई मिलती है। अहिंसा, अस्तेय अपरिग्रह आदि निवृत्तिमार्गीय व्रतों के साथ-साथ खेती खादी आदि के प्रवृत्ति-कार्य भी वहां चलते हैं।[1]

खेती[2] और खादी[3] के सम्बन्ध से होने वाली हिंसा को महात्मा गांधी ने कभी अहिंसा की कोटि में नहीं लिया। कितने ही पुनीत उद्देश्य से किसान खेती करे महात्मा गांधी की दृष्टि से उसमें सामाजिक स्वार्थ तो अन्तर्निहित है ही। हम यहां इस चर्चा में नहीं उतरना है कि महात्मा गांधी ने कहीं हिंसा को अहिंसा और धर्म के अन्तर्गत माना है या नहीं। उनकी अहिंसा सम्बन्धी परिभाषा है—अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव।[4] उनकी निष्ठा है—हिंसा तीनों कालों में हिंसा ही रहेगी।[5] अब यह प्रश्न बहुत विचारणीय है कि महात्मा गांधी की दृष्टि में हिंसा के साथ व्यापक प्रेम और अनासक्ति का मेल कहां तक बैठ सकता है? कुछ भी हो उक्त विवरणों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अहिंसा और निवृत्ति प्रधान धर्म का यह विपर्यय विविध क्षेत्रों में एक विकास के रूप में ही देखा गया है।

उपयोगिता के साथ यथार्थता का निर्वाह अपेक्षित

अपेक्षा भेद से यह माना जा सकता है—लौकिक प्रवृत्तियों को आध्यात्मिक रूप मिल जाने से दया दान आदि लोकोपकार में समाज विशेषरूप से प्रवृत्त हुआ। दीन अनाथ अपांगों के जीवन निर्वाह का मार्ग खुला। मोह ममता बढ़ने से सामाजिक जीवन सरस हुआ पर देखना यह है कि उपयोगिताओं के साथ

---

१ अहिंसा के आचार और विचार का विकास पृ० ६-१०

२ खेडूत जे अनिवार्य नाश करे छे तेने हूं अहिंसा मां कदी गणावेल नथी। ए वध अनिवार्य होई भले क्षम्य गणाय, पण ते अहिंसा तो नथी ज। खेडूतनी हिंसामां समाजनो स्वार्थ रहेलो छे। अहिंसामां स्वार्थने स्थान नथी।

—अहिंसा पृ १३६

३ खादी पर प्रक्रियाएं कम होती हैं इसलिए उसमें हिंसा कम है।

—गांधीजी-खण्ड १० अहिंसा प्रथम भाग पृ० १७

४ मंगल प्रभात पृ० ८१

५ अहिंसा पृ० २०-२१

यथार्थता का निर्वाह हुआ या नहीं ? किसी कर्म का उपयोगी हो जाना एक बात है और यथार्थ होना दूसरी बात। धर्म और अहिंसा का सम्बन्ध दार्शनिक मान्यताओं पर आधारित है। दर्शन के क्षेत्र में आत्मा, पुण्य, पाप और मोक्ष सम्बन्धी धारणाएं ज्यों की त्यों बनी रहें और धर्म के स्वरूप को सामाजिक उपयोगिता के लिए चाहे ज्यों विस्तृत करते रहें यह संगत नहीं हो सकता। भारतीय दर्शनों ने यह मान लिया होता कि जगत के प्रत्यक्ष स्वरूप की श्रेष्ठता ही इष्ट और काम्य है तो फिर भी समाज की लोकोत्तर विमुखता यथार्थ मानी जा सकती थी। लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने जीवन का परम लक्ष्य निर्वाण माना है भले ही उसके बाह्य स्वरूप में विभिन्नता रही हो। उसके हार्द में लगभग सभी दर्शन एकमत हैं। वह जीवन का परम लक्ष्य होता है। वहां आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में पहुंचती है। भव परम्परा के बीज राग और द्वेष वहां नहीं रह जाते। महायान सम्प्रदाय प्रभृति कुछ एक विचार परम्पराओं को छोड़कर लगभग सभी दर्शन परम्पराएं इसमें सहमत हैं कि मोक्ष और मोक्ष के उपाय व्यक्तिगत हैं। पिता, पुत्र समाज राष्ट्र और विश्व के एक साथ मोक्ष गमन की चर्चा कहीं नहीं है। व्यक्ति व्यक्ति ही अपनी अनवद्य साधना से कर्म मल रहित होकर मोक्ष पहुंचते हैं। ऐसी परिस्थिति में धर्म और अहिंसा के आधारभूत दर्शन की उपेक्षा कर समाज को एकान्तरूप से लोकाभिमुख ही बनाने का विचार कम यथार्थ माना जा सकता है और यह निर्हेतुक विपर्यास कम अहिंसा धर्म का विकास ही माना जा सकता है।

अहिंसा और धर्म का प्रयोजन

हम यह भी भूलना नहीं चाहिए कि अहिंसा और धर्म का परम उद्देश्य व्यक्ति को उसकी मंजिल तक पहुंचाने का है। यह ठीक है कि अहिंसा और धर्म के व्यापक बहुमुखी प्रभावों से वर्तमान जीवन भी अलौकिक होता है। समाज व्यवस्थाएं और अन्य विश्वोपक्रम सुसम्पन्न होते हैं, यह उनका गौण परिणाम ही होता है। अहिंसा प्राणीमात्र की जिजीविषा के लिए कही जाती है। भगवान् श्री महावीर के सूत्रों में भी यह बात बहुत प्रकारों से दुहराई गई है। प्राणीमात्र जीना चाहते हैं इसलिए निर्ग्रन्थ उनकी हिंसा न करें। वास्तव में यह एक उपदेश विधि ही है। इस स्थूलता के नीचे अहिंसा का स्वरूप और प्रयोजन तो इस प्रकार है—

आत्मा में रागादि भावों का अप्रादुर्भाव ही अहिंसा है और उन रागादि भावों का प्रादुर्भाव ही हिंसा है।[1]

---

१ अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।

संयत मुनि के रागादि आवेग रहित आचरण से किसी प्राणी का प्राण व्यपरोपण हो जाने पर भी वह हिंसा नहीं है।[1]

रागादि भावों के वश होने वाले असंयत आचरण से किसी जीव का प्राण व्यपरोपण हो अथवा न भी हो उस व्यक्ति के लिए तो वह निश्चितरूप से हिंसा है ही।[2]

तत्त्वार्थ यह है व्यक्ति कषायज भावों में लिप्त होकर हिंसा करता हुआ सर्वप्रथम अपनी आत्मा से अपनी ही आत्मा की हिंसा करता है। अन्य प्राणियों की हिंसा हो या न हो यह तो आगे की बात है।[3]

योगों की प्रमत्तता के कारण हिंसा से विरक्त न होना और हिंसा करना दोनों ही हिंसा के अन्तर्गत है।[4]

सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा भी परनिमित्तक नहीं होती तथापि परिणामों की विशुद्धि के लिए प्राण-व्यपरोपणादि हिंसायतनों से व्यक्ति को निवृत्त होना चाहिए।[5]

इस प्रकार जब व्यक्ति अपने द्वारा या अन्य किसी द्वारा होने वाली हिंसा को बचाने के लिए आत्मोपदेश या परोपदेश में प्रवृत्त होता है हिंसा टल या न टल,

---

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४४

१ युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा, प्राणव्यपरोपणादेव ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४५

२ व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४६

३ यस्मात्सकषाय सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४७

४ हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४८

५ सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंस।
हिंसायतननिवृत्ति परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४९

वह अपनी सत्प्रवृत्ति के कारण अहिंसा व अनुकम्पा का ही आचरण करता है। परन्तु अहिंसा का पारमार्थिक लक्ष्य आत्म शुद्धि और उसका मार्ग कषाय विजिगीषा है।

क्रान्तदर्शी आचार्य श्री भिक्षु

भगवान् श्री महावीर के लगभग तेईससौ वर्ष पश्चात् अहिंसा के क्षेत्र में क्रान्तदर्शी आचार्य श्री भिक्षु का अमिट चरण विन्यास हुआ। दो सहस्राब्दियों के इतिहास में अहिंसा का यह अपूर्व परिच्छेद बना। अहिंसा जहां लोकैषणाप्रधान तत्त्वों के आघात प्रत्याघात से जर्जरित हो उठी थी उसे पुन पुनरुज्जीवन मिला। बौद्ध वाङ्मय की शैली में आचार्य भिक्षु का वह उपक्रम 'जैसे उलटे को सीधा करदे ढके को उघार दे भटके को राह दिखा दे, अन्धियारे में दीप जला दे'[1] की उत्कृष्ट गरिमा से श्लाघनीय था। धर्म सरक्षण के नाम पर जीवन की अनिवार्यता के नाम पर मानव अनुकम्पा के नाम पर, दया दान और लोक सेवा के नाम पर अहिंसा हिंसा के द्वारा त्याग भोग के द्वारा निवृत्ति प्रवृत्ति के द्वारा निगली जा रही थी। महाप्राण आचार्य भिक्षु ने प्रतिस्रोत में अपने चरण थाम कर सचमुच ही गेहूं और कंकरा को दूध और पानी को अपनी हंस मनीषा से पृथक् पृथक् कर दिया था। उनकी सफलताएं उनके साथ ही विलीन नहीं हुई थीं। उनका यह तेरापंथ प्रतिष्ठान लाखों लाखों लोगों द्वारा आज भी पूजित हो रहा है। भविष्य की सहस्राब्दियों में भी यह अमृत प्रवाह बहता रहेगा यह आशा है।

आचार्य भिक्षु अहिंसा की एक प्रतिमूर्ति थे। उनके विचारों में अहिंसा थी, उनकी वाणी में अहिंसा थी और उनके आचरण में अहिंसा थी। वे अहिंसा के गूढ विचारक थे अनुपम उपदेशक थे और अनन्य उपासक थे। शास्त्रों के विलोडन और अपनी प्रतिभा के प्रस्फोटन से अहिंसा का जो नवनीत उन्हें मिला स्वयं उन्होंने खाया जी भर दूसरों को खिलाया और आने वाली सन्तति के लिए उसे ग्रन्थ मञ्जूषाओं में सजाकर रखा।

निष्ठा और परिभाषा

उनके हृदय में अहिंसा की अपार निष्ठा थी। वे अहिंसा के अखण्ड और विशुद्ध रूप में विश्वास रखते थे। उनका कहना था—अन्य वस्तुएं परस्पर मिल सकती हैं परन्तु अहिंसा (दया) में हिंसा नहीं मिल सकती। पूर्व और पश्चिम के

---

१ सयुत्तनिकाय दहर सुत्त ३ १ १

रास्ते कभी एक नहीं हो सकते।[1] धर्म की नींव अहिंसा (दया) के ऊपर है। हिंसा प्रवत्ति से धर्म होता तो जल मन्थन से भी घृत का आविर्भाव हो जाएगा। धूप और छाया की तरह हिंसा और दया की उपादान क्रियाएं भी अत्यन्त भिन्न होंगी।[2] रक्त से सनित पीताम्बर रक्त प्रक्षालन से शुद्ध नहीं होता तो हिंसा प्रवृत्ति से मलिन हुई आत्मा हिंसा धर्म से ही कैसे शुद्ध होगी ?[3] सुई के धागा पिरोने के छिद्र में कोई मोगरा पिरोने बैठे तो वह धागे के से पिरोएगा ? क्या हिंसा में पड़ता हुआ धर्म मन के पार उतरेगा ?[4] सद्भूत समस्त अहिंसा अल्प जीवों के लिए या बहुत जीवों के लिए नहीं वह समस्त जीवों के लिए है। षट्कायिक जीवों को मन वचन और शरीर से न हनन करना न हनन करवाना और न हनन करते हुए का अनुमोदन करना अहिंसा है।[5]

धर्म की कसौटी—आज्ञा और संयम

श्रद्धा के बिना जीवन एकनिष्ठ नहीं बनता और एकनिष्ठ बने बिना सिद्धि

---

१ और वसत में भेल हुवे पिण दया में नहीं हिंसा रो भेलो जी।
ज्यू पूरब ने पिछम रो मारग किण विध सावे मेलो जी॥
—अनुकम्पा चौपाई ढाल ६ गाथा ७१

२ जिण मारग री नींव दया पर खोजी हुवे ते पावे जी।
जो हिंसा माहें धर्म हुवे तो जल मथीयां घी आवे जी॥
—अनुकम्पा चौपई ढाल ६ गाथा ७४

३ हिंसा री करणी में दया नहीं छै दया री करणी में हिंसा नाहीं जी।
दया ने हिंसा री करणी छै न्यारी ज्यू तावड़ो ने छांहीं जी॥
—अनुकम्पा री चौपई ढाल ६ गाथा ७०

४ लोही खरड्यो जो पितम्बर लोही सूं केम धोवायो रे।
तिम हिंसा में धर्म कियां थी जीव उजलो किम थायो रे॥
—विरत इविरत री चौपई ढाल १ गाथा १६

५ सुई नाके सिंघर पोय कहो किम आगे पैस।
ज्यू हिंसा मांहे धर्म पड़पे, त सालोसाल न बेस रे॥
—आचार री चौपई ढाल ६ गाथा २८

६ छ काय हणाय नहीं हणीयां भलो न जाणें ताय।
मन वचन काया करी आ दया कही जिणराय॥
—अनुकम्पा री चौपई ढाल ८ दोहा ३

नहीं मिलती। तर्क सत्यावाप्ति का एक साधन है पर बुद्धि की तरतमता म उसका कोई एक रूप स्थिर नहीं होता। इसीलिए कर्मयोगी कृष्ण ने कहा है—'मामेक शरण व्रज—मेरा ही शरण ग्रहण करें'।[१] गौतम बुद्ध ने कहा—'यदि कोई किसी को सचमुच सम्यग कहे तो वह मुझको ही कह सकता है। मैंन ही उस अनुत्तरपूण बुद्धत्व का साक्षात्कार किया है।[२] भगवान श्री महावीर की तालीन भाषा थी, आणाए मामगा धम्मो आना म ही मेरा धम है।[३] आचाय श्री भिक्षु भगवान श्री महावीर क अनुयायी थे। उन्होंने उस आदेश को श्रद्धापूवक शिरोधाय किया और साथ-ही-साथ तक और युक्ति पर भी कसा। फलित रहा—भगवान् की आज्ञा वहा है जहा सयम और सत प्रवत्ति का वद्धि है।[४] ज्ञान, दशन, चरित्र और तप का सरक्षण है।[५] असयम और असत प्रवृत्ति के लिए भगवान् का कहीं इगित नहीं है। भगवान् की आज्ञा वहा है जहा ध्यान लश्या, परिणाम, योग और अध्यवसाय प्रशस्त हैं।[६] भगवान् की आज्ञा वहा है जहा धमध्यान और शुक्लध्यान की ज्योति[७] जलती है, व्रत-बीज अकुरित पुष्पित और फलित होता है। स्वाथ मिटता है और परमाथ जुटता है।

---

१ गीता अध्याय १८ श्लोक ६६

२ सयुत्तनिकाय वहर सुत्त ३।१।१

३ आचारांग सूत्र अध्ययन ६ उ० २

४ सव मूल गुण उत्तर गुण, देस मूल उत्तर गुण दोय रे।
यां दोनूं गुणां में जिण आगना आगना बार गुण नहीं कोय रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० १८

५ ग्यान दशण चारित नें तप ए तो मोख रा मारग च्यार रे।
यां च्यारां में जिणजी री आगना, यां बिना नहीं धम लिगार रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० २

६ नदी उत्तर त्यांरो ध्यांन कीसो छ किसी लेश्या किसा परिणाम रे।
जोग किसा अधवसाय किसा छ भला भूडां री करो पिछाण रे॥
ए पांचू भला छ तो जिण आगना छ माठा में जिण आग्या न कोय र।
ए पांचू माठा सू पाप लाग छ भला सू पाप न होव रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल ३ गा० १६ २०

७ धर्म ने सुकल दोनू ध्यांन में जिण आग्या दोधी वारवार रे।
आरत रुद्र ध्यांन माठा बेहू यांन ध्यावें ते आग्या बार रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० १२

भगवान् की आज्ञा वहां है जहां सावद्य कर्म टलता है निरवद्य कर्म पलता है।[1] ऐसा एक भी कार्य नहीं है जो धर्म और अहिंसारूप हो और वह आज्ञा सम्मत न हो। न ऐसा ही कोई कार्य अवशेष रह जाता है जो आज्ञा-सम्मत हो और अहिंसा व संयम प्रधान न हो। इस प्रकार आज्ञा और तर्क को अपनी बुद्धि के तराजू पर तोल कर आचार्य भिक्षु ने अहिंसा और धर्म की कसौटी—आज्ञा और संयम को कहा। आगमवादियों से वे कहते जो व्यक्ति यह कहता है यह धर्म है पर आज्ञा सम्मत नहीं है वह सचमुच ही कहता है—मैं पुत्र हूं पर मेरी माता बन्ध्या[2] है। वे तर्कनिष्ठ लोगों से बतलाते—असंयति जीवों की जीवन-कामना राग है मरण-कामना द्वेष है और उनके लिए की गई भव निस्तीर्णा धर्म है।[3]

अविभक्त अहिंसा

अहिंसा सम्बन्धी सभी शास्त्रों में अहिंसा की परिभाषा लगभग समान ही मिलती है। ज्यों-ज्यों वह जीवन के व्यवहारिक प्रसंगों पर उतारी जाती है वहां वह परिभाषा विभक्त होती देखी जाती है। प्रवक्ता व विचारक उन परिभाषाओं को तोड़ मोड़कर वर्तमान जीवन के साथ संगत करते हैं। जैन शास्त्र कहते हैं साधु अपने संयम निर्वाह के लिए अचित्त प्रासुक और एषणीय आहार ग्रहण करे। आवश्यक नियुक्ति में बताया जाता है—साधु रोगादि विशेष परिस्थिति में सचित्त पृथ्वी पानी वनस्पति आदि का उपयोग करे। अचित्त की अनुपलब्धि में वह सचित्त पृथ्वी पानी वनस्पति आदि गृहस्थ के यहां से लाए वहां न मिले तो वह खान सरोवर अटवी आदि स्थानों में जहां सुलभ हो वहां से लाए।[4] रोगादि प्रसंगों से तथा संघ-संरक्षण चैत्य रक्षण आदि प्रसंगों से वध मानी गई हिंसा के

---

१ दोय करणी संसार में, सावद्य निरवद्य जाण।
निरवद करणी में आगन्यां तिणसू पामें पद निरवाण॥
—विरत इविरतरी चौपाई ढाल १२ दू० २

२ कोई कहे मांहरी मा तो छै बांझड़ी तिणरो हूं छूं आतम जात।
ज्यूं मूढ कहे जिण आगना बिना करणी कीधां धर्म साख्यात॥
—विरत इविरतरी चौपाई ढाल २ गा० ११

३ असंयति जीव रो जीवणो बांछे ते राग मरणो बांछे ते धेष, तिरणो बांछे ते वीतराग प्रभु रो मारग छै।
—जयाचार्य कृत हाजरी

४ आवश्यक नियुक्ति परिष्ठापना समिति

और भी अनेकों रोम हर्षक उदन्त पिछले प्रकरणों में बताए जा चुके हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण दृढ और यथोचित रहा है। उनका अभिप्राय था—राग और द्वेष से मुक्त तीर्थंकर द्रव्य हिंसा, भाव हिंसा आदि का उल्लेख करते हैं, वह उनके अधिकार की बात है। राग द्वेष मुक्त सर्वज्ञों की तरह साधारण छद्मस्थ भी यदि अहिंसा धर्म में अपवाद जोड़ने चलें तो वह न्याय नहीं है। अवीतराग के निर्णय में राग और द्वेष का स्फुरणा सम्भावित है, अत उनका इस ओर प्रवृत्त होना संगत नहीं। एक के बाद एक अपवाद जोड़े जाकर अहिंसा मिट ही जा सकती है।

आचार्य भिक्षु का यह क्रान्तिकारी घोष था, टीका, भाष्य चूर्णियां आदि स्वत प्रमाण नहीं हैं। जैसे उन्होंने अन्य आचार्यों द्वारा विहित अपवादों को हेय बताया वे स्वय भी अपनी धारणा पर अत्यन्त सुदृढ रहे। उन्होंने एक धर्म संघ का प्रवर्तन किया। सहस्रों प्रश्न और परिस्थितियां उनके सामने आती रहीं, तथापि एक भी अपवाद जोड़कर उन्होंने अहिंसा को विभक्त नहीं किया। दया दान, लोकोपकार साध्वाचार आदि की जो व्याख्याएं उन्होंने दीं उनमें अहिंसा और संयम को सर्वत्र अविभक्त बनाए रखा। छद्मस्थ अवस्था में भगवान् श्री महावीर ने शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर गोशालक को बचाया। आचार्य भिक्षु ने कहा—यह अवीतराग दशा की भूल थी।[1] लोकमत प्रतिकूल हुआ। दया के उत्थापक दान के विध्वंसक के खिताब मिले पर उन्होंने हिंसा के हाथों अहिंसा को नहीं जाने दिया। उनका विश्वास था—मेरा उपास्य अहिंसा है न कि लोक समुदाय।

परम कारुणिक

स्थूल मेधावालों की धारणा में आचार्य भिक्षु जितने करुणा-शून्य थे, तत्त्वदर्शियों की दृष्टि में वे उतने ही अधिक कारुणिक थे। धनी और निर्धन, बलवान और निर्बल स्थावर और जंगम उनकी दृष्टि में समान थे। एक के लिए दूसरे का बलिदान उन्हें स्वीकार नहीं था। वे प्राणीमात्र की समानता में विश्वास रखते थे। मनुष्य संसार की सर्वश्रेष्ठ कृति है उसकी अपेक्षाओं के लिए अन्य प्राणियों का बलिदान आध्यात्मिक नहीं माना जा सकता। यही बात स्थावरों का प्राण

---

१ तिणनें वीर बचायो बलतो जाण न रे, लब्धि फोडवे सीतल लेस्या मूक रे।
राग आण्यो तिण पापी ऊपर रे छदमस्थ गया तिण काले चूक रे॥
—अनुकम्पा चौपई ढाल १० गाथा ७

विप्राजन कर जगमों के मरणण म थी।[1] आचाय भिक्षु का तत्त्व चिंतन था प्राणीमात्र जीना चाहते हैं। व्याघ्र को मार कर मनुष्य की रक्षा एक समाजनीति हो सकती ह पर अध्यात्म नहीं। भगवान आत्मवत् सवभूतेषु—प्राणीमात्र को अपने समान समझने का ह। व्यवहारिक जीवन में मनुष्य उस भावना म तरतमता स्थिर करता ह। पशुओं की अपेक्षा म वह मनुष्य को प्रमुखता देता ह मनुष्य मनुष्य म वह अपनी जाति और देश क मनुष्य को और उसकी भी अपेक्षा म अपने पारि वारिक को और अन्त म वह स्वय को। य मनुष्य की ममता परक सीमाएं हैं। इन अपेक्षाओं म परमाथ नहीं खोजा जा सकता।

तो एकेन्द्रिय जीवों ने कब कहा था ?

आचाय भिक्षु स किसी एक ने कहा—एकेन्द्रिय को मारकर पचेन्द्रिय जीव का पोषण करने म धर्म है। आचाय भिक्षु बोले—यदि कोई तुम्हारा अगोछा छीनकर किसी ब्राह्मण को दे द तो उसम धम होगा कि नहीं ? प्रश्नकर्ता न कहा—नहीं। आचाय भिक्षु ने कहा—ऐसा प्रकार कोई किसी के धान स भर बाड़ को अपने आप मारकर सारा धान गरीबों को बांट द तो उसम धम होगा या नहीं ? प्रश्नकर्ता ने कहा—उसन दोनों काय मालिक की इच्छा बिना किए गए हैं अत इनम धम नहीं होगा। आचाय भिक्षु स्मित भाव से बोले—तो एकेन्द्रिय जीवों ने कब कहा था, हमारे प्राण पचेन्द्रिय जीवों के लिए ले लो।[2]

मात्स्य न्याय

सामाजिक प्राणी के जीवन निर्वाह म पृथ्वी जल वनस्पति आदि की हिंसा अवश्यम्भावी हो जाती है। एक मत्स्य दूसरे मत्स्य को खाकर जीना है और अन्य उसम भी बड़ा मत्स्य उस खाकर जीता है। यह मात्स्य न्याय लोक म चलता ही रहता है। एक दूसरे का भक्षण कर अपनी अपनी जिजीविषा पूरी करते हैं। उसम

---

१ केई कहे छे हणां एकेन्द्री पचन्द्री जीवां र तांई जो।
एकेन्द्री मार पचेन्द्री पोख्यां धम घणां तिण माहीं जो॥
एकेन्द्री थी पचेंद्री नीं मोटा घणा पुन भारी जो।
एकेन्द्री मार पचेन्द्री पोख्यां म्हांने पाप न लाग लिगारी जो॥
—अनुकम्पा चोपई ढाल ६ गाथा १६ २०

२ भिक्खु दृष्टान्त संख्या २६४

भी लोक धर्म कहते हैं, यह आश्चर्य है।[1] आचार्य भिक्षु के मन में निर्बल जीवों के प्रति होने वाली इस निर्ममता के प्रति गहरी करुणा है। वे कहते हैं—निर्बल स्थावर प्राणियों को मारकर सबल जंगम प्राणियों का पोषण करते हैं और उसमें धर्म कहते हैं, सचमुच ही यह विपरीत बात है। ऐसे लोग बेचारे स्थावर जीवों के लिए शत्रु पैदा हुए हैं।[2] जीवों को मारकर जीवों का पोषण करना सांसारिक मार्ग है। इसमें धर्म बतानेवाले भ्रान्त हैं।[3]

आचार्य भिक्षु ने स्थावर जीवों के प्रति अहिंसा का विवेक दिया। वे यह जानते थे कि सामाजिक प्राणी का जीवन हिंसा के साथ जकड़ा हुआ है और वे इस हिंसा से बहुत अधिक ऊपर नहीं उठ सकते। आचार्य भिक्षु के मन में दो प्रेरणाएं बलवती थीं—स्थावर जीवों को साधारण या नगण्य समझकर मारा ही न जाए। श्रावक भी अपने सद्विवेक से यथासम्भव उनके प्रति अहिंसक बनें। दूसरी प्रेरणा—व्यक्तिगत या सामाजिक अपेक्षाओं से उनकी हिंसा भी की जाए और धर्म भी माना जाए, यह उचित नहीं।

सामाजिक जीवन की अपेक्षा में

सामाजिक जीवन की अपेक्षाओं में आचार्य भिक्षु का विवेक पूर्ण जागरूक था। अपने बारह व्रत की चौपई में वे श्रावक की भाषा में बोलते हैं—मैं गृहस्थाश्रम में बसता हूं। नाना कार्यों में स्थावर जीवों की हिंसा होती ही रहती है। आरम्भ किए बिना उदर नहीं भरता और आरम्भ में हिंसा हुए बिना नहीं रहती। इसलिए स्थावर जीवों की हिंसा का यथाशक्य परिमाण करता हूं। जंगम प्राणियों के विषय में निरपराध प्राणी की हिंसा का त्याग करूंगा, अपराधी प्राणी की हिंसा का नहीं। मैं खेती करते हुए हल चलाता हूं, जमीन पोली करता हूं, घास आदि काटता हूं, निरपराध जीव भी उसमें मरते हैं। अतः निरपराध जीवों को भी मैं

---

१ मछ गलागल लोक में सबला ते निबला ने खाय।
तिण में धर्म परूपीयो कुगरा कुबुध चलाय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ७ दोहा १

२ रांकां ने मार धींगाने पोषे ओ तो मारग दीसे घणो गेरो।
ईण मांहीं धर्म परूपे त्यां रांक जीवांरा उठ्या बैरी॥
—ज्ञानप्रकाश पृष्ठ ६८

३ जीवां ने मारे जीवां ने पोष, ते तो मारग ससार नो जाणों जी।
तिण मांहें साध धर्म बताव, ते तो पूरा छ मूढ अयाणो जी॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ६ गाथा ७५

मकल्पपूर्व से मारने का ही त्याग करता है।[1]

स्थावर अहिंसा का विवेक

आचार्य भिक्षु ने स्थावर अहिंसा पर जो विवेक दिया वह अवश्य निराला है। उनके अहिंसा चिंतन का वह एक प्रमुख भाग कहा जा सकता है। धर्म अधर्म हिंसा अहिंसा के निरूपण में उन्होंने स्थावर जीवों को कहीं भुलाया नहीं है। महात्मा गांधी के अहिंसा चिंतन में भी स्थावर जीवों के अस्तित्व और अहिंसा विवेक की एक झांकी मिलती है—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वनस्पति में भी प्राण हैं परन्तु वनस्पति का उपयोग किए बिना भी हम नहीं रह सकते। यह जीवन के नाश से किसी तरह कम नहीं है। अग्नि को प्रगट करने में हिंसा होती है। फिर उस अग्नि में सूखी या हरी वस्तु का होम करना विशेष हिंसा है।[3] जिस तरह मनुष्य ईश्वर की कृति है उसी तरह प्राणीमात्र ही उसकी कृति है। अतः वे भी एक कुटुम्ब रूप हैं इसलिए उनके प्रति भी हम सद्भावना रखनी चाहिए। मिट्टी या पत्थर का भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।[4]

१ वसतां गृहस्थावास, हिंसा हुवे जास।
आरम्भ विण करीये ए पेट किम भरीये ए॥३॥
कम तस तणा पचखाण थावर नों परमाण।
भद तस तणा ए थानी कह्या घणा ए॥४॥
कोई माने घाले घात, माहरो अपराधी साख्यात।
खमतां दोहिलो ए नहीं मोनें सोहिलो ए॥५॥
विण अपराधी होय तिणरी हिंसा दोय।
मारे जाणतां ए वले अजाणतां ए॥७॥
म्हारे धान जोखण रो काम गाडी चढ जाऊं गाम।
खती हल खडू ए सूर निर्नाण करू ए॥८॥
तिहां बहु जीव हुणाय किम पालू मुनीराय।
नहीं सभे एसो ए प्रहवासे फस्यो ए॥९॥
आकुटी ने साम, जीव मारण रे काम।
व्रत छ जांणतां ए, नहीं अजांणतां ए॥१०॥

—बारह व्रत री चौपई गीति १

२ गांधीजी, खण्ड वन अहिंसा–प्रथम भाग पृष्ठ २३
३ व्यापक धर्म भावना पृष्ठ ३०८
४ गांधी और गांधीवाद पृ० २७३ ७४

जीवन धारणा की अपेक्षा और सूक्ष्म जीवों की अहिंसा के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने सुन्दर संगति दी है। आचार्य भिक्षु ने इस तथ्य को 'मच्छ गलागल' और महात्मा गांधी ने 'जीवो जीवस्य जीवनम्' के शब्द विन्यास से देखा है। वे कहते हैं—अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी हैं जो हिंसा की होली में फंसे हुए हैं। जीवो जीवस्य जीवनम् यह बात असत्य नहीं है। मनुष्य बाह्य हिंसा के बिना जी नहीं सकता। खाते पीते, उठते बैठते इच्छा से या अनिच्छा से कुछ-न-कुछ हिंसा करता ही रहता है। इस हिंसा से छूट जाने का प्रयास करता हो उसकी भावना में केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो तो समझना चाहिए वह अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति में निरन्तर संयम की वृद्धि होती रहेगी उसकी करुणा निरन्तर बढ़ती रहेगी।[1]

धर्म के दो स्वरूप-आधिभौतिक और आध्यात्मिक

गीता कहती है—जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य भय और अभय, बन्ध और मोक्ष इन भेदों को जानती है वह बुद्धि सात्त्विक है। जो धर्म और अधर्म कार्य और अकार्य आदि भेद प्रभेदों को यथार्थ नहीं जानती, वह बुद्धि राजसी है। धर्म को ही अधर्म माननेवाली और हर तत्त्व को विपरीत समझने वाली बुद्धि तामसी है।[2]

धर्म शब्द का प्रयोग एक समस्या

कार्यों की हेयता और उपादेयता को पाने के लिए नाना वर्गीकरण आवश्यक होते हैं। मीमांसकों ने अबन्धक और बन्धक की अपेक्षा से कर्म के दो भेद किए—क्रत्वर्थ (यज्ञार्थ) और पुरुषार्थ। स्मृति विहित वर्णाश्रम कर्म युद्ध वाणिज्य आदि स्मार्त कर्म और व्रत उपवास आदि पुराण विहित कर्म पौराणिक कहलाए। नित्य,

१ युद्ध और अहिंसा (धर्म की समस्या) पृ० १७५
२ प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥
—गीता अध्याय १८

नमित्तिक काम्य और निषिद्ध म भी सब कर्मों के भेद हैं।[1] जन आगमों की भाषा म पाप आगमन के हेतुरूप कर्म अशुभ योग आश्रव हैं पाप निरोधक कर्म सवर हैं, पाप-मोचक कर्म निर्जरा हैं, पुण्य निमित्तक कर्म शुभ योग आश्रव हैं। आचार्य भिक्षु ने इन्ही हेयोपादेय भेद प्रभेदों को सावद्य निरवद्य कर्म प्रवृत्ति निवृत्ति, त्याग भोग, आज्ञा अनाज्ञा आदि भेदों में अभिहित किया।

कालक्रम परम्परा म समाजस्थ प्राणियों के सभी करणीय और अकरणीय कर्म धर्म और अधर्म शब्दों म बह जाने लगे। कार्यों की करणीयता और अकरणीयता विविध अपेक्षाओं पर आधारित थी। धर्म शब्द म उन सबका समावेश बहुत ही भ्रामक हो गया। धर्म शब्द का मुख्य अर्थ आत्म शुद्धि का साधन है पर जब वह जाति कर्तव्य और नाना सामाजिक नियमनों के अर्थ म व्यवहृत होने लगा तो सामान्य लोगों में वे सभी कर्म मोक्ष साधक धर्म के अन्तर्गत समझे जाने लगे। विद्वान् और विचारक उन शब्द प्रयोगों म भले ही स्वयं न उलझे हो परन्तु उनके विभिन्न अपेक्षाओं से किए गए वे धर्म शब्द के प्रयोग समाज की धर्म सम्बन्धी धारणाओं म एक समस्या बन गए।

महात्मा गांधी के शब्द प्रयोग

महात्मा गांधी के शब्द प्रयोगों को देखें। वे कहते हैं—बन्दर जिस जगह उपद्रवरूप हो गए हैं उस जगह उनको मारने म जो हिंसा होती है वह क्षम्य है। ऐसी हिंसा धर्म होती है।[2] एक अन्य प्रसग म वे कहते हैं—जब मकान सामने हो। सब अहिंसा के नाम पर फसल को उजडने देना मैं तो पाप ही समझता हूँ।[3] इसी प्रकार एक प्रसग से वे लिखते हैं—मछली या मांस खाने वाले को वे चीजें खाने देने म जो हिंसा होती है उसे मैं हिंसा नहीं मानता। मैं उसे अपना धर्म समझता हूँ।[4] इन्हीं विषयों पर वे प्रसगान्तर से दूसरी ही भाव भाषा में अपना मत प्रस्तुत करते हैं—बन्दर को मार भगाने में मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूँ। यह भी स्पष्ट है कि उन्हें अगर मारना पड़े तो उसम अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनों कालों म हिंसा ही गिनी जाएगी। उसम बन्दर के हित का विचार नहीं है किन्तु मानव के ही हित का विचार है।[5] किसान जो हिंसा करता है वह हिंसा अनिवार्य होकर

---

१ कर्मयोग शास्त्र पृ० ५६ ५७
२ हरिजन ता० २६ ४ ४६
३ हरिजन बन्धु ता० २६ ५ ४३
४ आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी पृ० २०
५ अहिंसा (गुजराती) प० ५० ५२

क्षम्य हो सकती है परन्तु अहिंसा नहीं हो सकती।[1] प्लेग के चूहे और कीचड भी मेरे सहोदर हैं। जीने का जितना अधिकार मेरा है उतना ही उनका है।[2] इन परस्पर विरोधी उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है बन्दर आदि की हत्या में धर्म कहते समय उनकी बुद्धि एक सामाजिक व राष्ट्रीय कर्तव्य की ओर रही है और उन्हीं कार्यों को हिंसापरक तथा दोषपूर्ण बताते समय उनका चिन्तन प्राणीमात्र की समानता और आत्म धर्म की यथार्थता पर रहा है।[3]

तिलक और धर्म का उभयात्मक स्वरूप

कर्मयोग के असाधारण विवेचक लोकमान्य श्री बालगंगाधर तिलक के सामने धर्म शब्द का यह व्यापक प्रयोग कठिनाई होकर आया है। गीता रहस्य में अनेकों पृष्ठों में धर्म के उभयात्मक रूप को उन्हें स्पष्ट करना पड़ा है। वे लिखते हैं—धर्म और उसका प्रतियोग अधर्म ये दोनों शब्द अपने व्यापक अर्थ के कारण कभी कभी भ्रम उत्पन्न कर दिया करते हैं। नित्य व्यवहार में धर्म शब्द का उपयोग पारलौकिक सुख का मार्ग इसी अर्थ में किया जाता है। जब हम किसी से प्रश्न करते हैं कि तेरा कौन सा धर्म है? तब उससे पूछने का यही हेतु होता है कि तू अपने पारलौकिक कल्याण के लिए किस मार्ग—वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी या पारसी से चलता है और वह हमारे प्रश्न के अनुसार ही उत्तर देता है। इसी तरह स्वर्ग प्राप्ति के लिए साधन भूत यज्ञ याग आदि वैदिक विषयों की मीमांसा करते समय अथातो धर्मजिज्ञासा आदि धर्म सूत्रों में भी धर्म शब्द का यही अर्थ लिया गया है परन्तु धर्म शब्द का इतना ही संकुचित अर्थ नहीं है। इसके सिवा राजधर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म इत्यादि सांसारिक नीति बन्धनों को भी धर्म कहते हैं। धर्म शब्द के इन दो अर्थों को यदि पृथक करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्म को मोक्ष धर्म अथवा सिर्फ मोक्ष और व्यवहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल धर्म कहा करते हैं।[4] इसी प्रकरण में वे आगे लिखते हैं—जो कर्म हमारे मोक्ष हमारी आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हो वही पुण्य है वही धर्म है और वही शुद्ध कर्म है और जो कर्म उसके प्रतिकूल है वही पाप, अधर्म अथवा अशुभ है।[5]

---

१ अहिंसा (गुजराती) पृ० १३६

२ व्यापक धर्म भावना प० ६ १०

३ विशेष विवरण—आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी प० १७ २६

४ गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ६७ ६८

५ गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ७०

मोक्ष धर्म और समाज धर्म की इतनी स्पष्ट धारणा होते हुए भी लोकमान्य तिलक ने विषय के उपसंहार में यही कहा है—क्या संस्कृत और क्या भाषा सभी ग्रन्थों में धर्म शब्द का प्रयोग उन सब नीति नियमों के बारे में किया है जो समाज धारणा के लिए शिष्टजनों के द्वारा अध्यात्म-दृष्टि से बनाए गए हैं। इसलिए उसी शब्द का उपयोग हमने भी इस ग्रन्थ में किया है।[1]

मोक्ष धर्म और व्यवहारिक धर्म विषयक अपनी धारणा को यदि लोकमान्य तिलक अपने सहस्र पृष्ठों के विशाल ग्रन्थ गीता रहस्य में आदि से अन्त तक उसी शब्द भेद के साथ निभाते तो गीता-दर्शन एक नया ही रूप ले लेता। वह इस पहलू पर एक वैसी ही क्रान्ति होती जैसी जैन परम्परा में आचार्य श्री भिक्षु ने की है। पर वर्तमान गीता रहस्य तो लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म को मिलाकर चलने वाली प्राचीन परम्परा का ही पोषक ग्रन्थ बन गया है। शब्द प्रयोग का प्रारम्भ में किया जानेवाला मात्र स्पष्टीकरण सामान्य पाठकों के साथ बहुत आगे तक नहीं चल पाता।

लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म की विभक्ति

आचार्य श्री भिक्षु लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म को मिला देने के नितान्त विरोधी थे। उनकी धारणा थी दोनों धर्मों को एक ही मानकर चलने में उद्देश्य हानि के कारण दोनों ही अपना स्वरूप खो सकते हैं। एक वणिक घृत और तम्बाकू इन दो चीजों का व्यापार करता था। एक दिन अपनी दुकान लड़के को सम्भला कर स्वयं किसी दूसरे गाँव को चला गया। लड़का वस्तु विवेक से रहित था। उसने सोचा पिताजी दोनों वस्तुओं का भाव तो एक ही बतला कर गए हैं और इधर आधा बर्तन तम्बाकू से भरा है और इधर आधा घृत से। क्यों नहीं मैं दोनों को एक ही बर्तन में डालकर एक बर्तन खाली करके ही रख दूँ? वैसे ही किया। कोई भी ग्राहक आता—घृत या तम्बाकू का तो वह उसे घृत-तम्बाकू-मिश्रित दिखलाता और कहता दोनों चीजें एक ही भाव की हैं। ले जाइए। ग्राहक उसकी मूर्खता पर हँसकर वापिस लौट जाते। सायंकाल पिता दुकान पर आया। लड़के की बुद्धिमानी देखी। हैरान रहा। बोला ऐसा करके तो तूने दोनों ही वस्तुओं का सत्यानाश कर दिया।[2] यही बात आचार्य भिक्षु मोक्ष धर्म और समाज धर्म को

१ गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ७२

२ जिम कोइ घ्रत तबाखू विराज पिण खासण विगत न पाइ रे।
घ्रत लेई तबाखू में घाल, ते दोनूंई वसत विगाड रे॥
—व्रताव्रत चौपई गीतिका ४ गाथा १

एक वर देन के विषय म माना करत थे। उनका कथन था, अपने अपन स्थान पर दोना वस्तुए उपयोगी और मूल्यवान् हैं। पर दोना का न्स प्रकार का मेल दोना के लिए ही घातक होना है। सवसाधारण को विविध उन्हाहरणों से उन्होंने आधि भौतिक और आध्यात्मिक धर्मों का बोध दिया है। वे कहत हैं—कोई व्यक्ति अग्नि स जल रहा है या कुए मे गिर रहा है उसे किमी ने बचाया यह लौकिक उपकार है।[1]

किसा ने किसी व्यक्ति को बाध-ज्ञान कर पाप मुक्त किया और वह पाप मुक्त व्यक्ति भव-कूप में गिरने से बचा और भव दावाग्नि से जलते जलते बचा, यह लोकोत्तर उपकार है और मोक्ष माग है।[2]

कोई किसी मरणासन्न रोगी को औषधादि उपचार से स्वस्थ कर मरने स बचा लेता है यह सासारिक उपकार है।[3]

किसी व्यक्ति ने मरणासन्न व्यक्ति को चार शरण दिए नानाविध त्याग कराए सासारिक आसक्ति स मोह मुक्त किया यावन् आमरण अनशन (सथारा) करा दिया यह उपकार मोक्ष सम्बन्धी है।[4]

किसी व्यक्ति ने किसी का तालाब म डूबने स बचाया या ऊपर से गिरते हुए को बचाया यह उपकार सासारिक है।[5]

---

१ कोइ द्रवे लाय सू बलतो राख द्रवे कूवो पडता नें झाल बचायो।
ओ तो उपगार कीयो इण भव रो, जो विवेक विकल स्यांने खबर न कांयो॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा २

२ घट में ग्यांन घाल नें पाप पचखाव तिण पडतो राख्यो भव कूवा मांह्यो।
भावे लाय सू बलता नें काढ रिखइवर ते तिण भेहलां भेद न पायो॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा ३

३ कोइ मरता जीव नें ओखद बचाव झाड़ झपटा कर ओखध देन्‍ तांम।
बले अनक उपाय कर नें तिणन, मरतो राख्यो साजो कीयो तमांम॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा ८

४ कोइ मरता जीव नें सरण कराइ च्यारू सरणा देइ नें कराव सथारो।
ग्यांन ध्यांन मांहें परिणाम चढ़ाय, वातीलां सू देवें मोह उतारो॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा ६

५ कोइ लाय सूं बलता नें काढ़ बचायो, बले कूए पडता नें झाल बचायो।
तलाव मांह डूबा नें बार काढ़, बले उंचा थी पडतां नें झाल लीयो ताह्यो॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १२

किसी न किसी व्यक्ति को ससार समुद्र म डूबने स बचाया या नरकादि निम्न गतियों मे पडने से बचाया, यह उपकार मोक्ष सम्बन्धी है।[1]

किसी के घर म आग लगी है। छोटे बड सभी लपट म आ गए हैं। किसी न आग बुझाकर उन सबको बचा लिया है यह सासारिक उपकार है।[2]

किसी व्यक्ति के घट म तष्णा की होली जल रही है उसके ज्ञान दशन चारित्र आदि गण उसम जल रहे हैं। किसी न धर्मोपदेश कर वह तष्णा की आग बुझा दी, उसके हृदय म शान्ति का मेघ बरसा दिया यह उपकार आध्यात्मिक है।[3]

कोई व्यक्ति अपन पुत्र का लालन पालन करता है उसका विवाह करता है उसके लिए भोगोपभोग की सभी सामग्री जुटाता है यह उपकार सासारिक है।[4]

कोई व्यक्ति अपन पुत्र को प्रारम्भ स आध्यात्मिक प्रशिक्षण देता है ससार की अनित्यता बताता है विषय सुखों को दुःख मूल बताता है और त्याग माग पर अग्रसर कर देता है यह उपकार आध्यात्मिक है।[5]

कोई व्यक्ति माता पिता को कावड म लिए चलता है यथासमय उन्हे यथा रुचि भोजन कराता है यह सेवा सासारिक है।[6]

---

१ जनम मरण री लाय थी बार काढ़ भव कूआ मांहि थी काढ़ बारे।
नरकादिक नीची गति मांहें पडतां नें राख ससार समुद्र थी बार काढ़ उधार॥
—अनुकम्पा चौपाई गीति ११ गाथा १३

२ किणर लाय लागी घर बल छ तिणमें नान्हा मोटा जीव बल लाय माहि।
कोइ लाय बुझाय त्यान बार काढ़ घणांरे साता कीधी लाय बुझाई॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १४

३ किणरे तिसणा लाय लागी घट भितर ग्यांनादिक गुण बल तिण मांय।
उपदेस देइ तिणरी लाय बुझाव, रूम रूम में साता दीधी वपराय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १५

४ कोइ टावर पाल नें मोटा कर छ आछी आछी वस्त तिणनें खवाय।
बले मोटे मडाण कर परणाव बले धन माल देवे कमाय कमाय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १६

५ कोई बेटा नें रूडी रीत समझाए धन माल सगलोइ देव छोडाय।
काम भोग अस्त्रीयादिक खावो न पीवो भली भांति सू त्याग कराव ताय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १७

६ माता पिता री सेवा कर दिन रात बले मनमान्यां भोजन त्यान खवाव।
बले कावड कांधे लीयां फिर त्यांरी, बले वेहू टकां री सिनान कराव॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १८

कोई व्यक्ति वृद्धावस्था में माता पिता को धार्मिक स्वाध्याय कराता है शास्त्रादि विषयों में अरुचि उत्पन्न कराता है और ज्ञान, दर्शन आदि आत्म गुणों में लीन करता है यह सेवा पारमार्थिक है।[1]

जंगल में राह भूले व्यक्ति को कोई राह बता देता है या उसे कन्धों पर बिठा कर उसके घर पहुंचा देता है यह आधिभौतिक उपकार है।[2]

संसाररूप अटवी में भटकते हुए मनुष्य को कोई ज्ञान-मार्ग बता देता है, उसका पाप भार दूर कर देता है और उसे आनन्दपूर्वक मुक्ति पहुंचा देता है यह धार्मिक उपकार है।[3]

प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वित मार्ग

आचार्य भिक्षु की धर्म के विषय में जिस प्रकार आधिभौतिक और आध्यात्मिक उभय स्वरूपात्मक व्याख्या रही इसी प्रकार दया दान सेवा आदि सभी व्यापक शब्दों को लौकिक और लोकोत्तर भेदों में बांट देने की मीमांसा रही। उन्होंने मुनि जीवन को निकेवल अध्यात्म साधक माना और गृही-जीवन को निवृत्ति और प्रवृत्ति का एक समन्वित मार्ग।

गृही-जीवन के उभयात्मिक रूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक बहुत ही सरल और भावबोधक उदाहरण दिया। किसी नगर में एक धनवान् सेठ रहता था। उसके दो पत्नियां थीं। दोनों की ही सेठ के प्रति अत्यन्त आत्मीयता थी। दो पत्नियां होकर भी सेठ का दाम्पत्तिक जीवन सुख-पूर्ण था। उन दोनों में एक आध्यात्मिक दृष्टि को समझनेवाली थी और दूसरी इससे सर्वथा अनभिज्ञा थी। अकस्मात सेठ का शरीरान्त हो गया। घर में कोलाहल मचा। पारिवारिक लोग एकत्रित हुए। प्रथम स्त्री धर्म-मर्मज्ञा थी। उसने सोचा यह संसार की नश्वरता है, इसे कोई टाल नहीं सकता। दिवंगत आत्मा के प्रति मोह, आसक्ति और आर्त्त

१ कोइ मात पिता नें रूडी रीते, भिन भिन कर नें धर्म सुणाव।
ग्यांन दरसण चारित रयांन पमाव, कांम भोग शब्दादिक सब छोडाव॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १६

२ गृहस्थ भूलो उज्जड वन में, अटवी नें वले उजाड़ जाव।
तिणनें मारग बताय न घरे पोंहचाव, वले थाको हुय तो कांधे बेसाव॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा २४

३ संसार रूपणी अटवी में भूला न, ग्यांनादिक सुध मारग बताव।
सावद भार न अलगो मेलाए, सुखे सुखे सिवपुर में पोंहचाव॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा २५

ध्यान करके मैं क्या अपनी आत्मा को बन्धन में डालूँ। मुझे अपनी राग वृत्ति पर विजय पानी चाहिए। वह स्वाध्याय ध्यान जप आदि में लीन हो गई। दूसरी स्त्री ने अपने अनुराग का और सांसारिकता का मुक्त प्रदर्शन किया। दार पीटना छाती कूटना हृदय द्रावक शब्दों में विलाप करना आदि सब किए। आने वाले लोग परस्पर यही चर्चा करते घर को वापिस होने लगे—यही पतिभक्ता तो यही है। इसीको अपार कष्ट हुआ है। उसको तो मानो यह दुःख लगा ही नहीं था। वह तो अपना स्वार्थ की पतिभक्ता थी। किसी एक तत्त्वज्ञ ने यह भी कहा उसका विवेक उसकी साधना बहुत ऊँची है। उसने दर्शन और धर्म के अध्ययन से जीवन की नश्वरता का जो पाठ पढ़ा है उसे जीवन में भी उतारा है। रोने-पीटनेवाली तो सहस्रों स्त्रियाँ मिलेंगी इस प्रकार की मर्मविद् तो कोई विरली ही मिलती है। आचार्य भिक्षु कहते हैं यह लोक-दृष्टि और लोकोत्तर दृष्टि का भेद है।[1]

धर्म के दो विभाग

सुप्रसिद्ध गान्धीवादी विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखते हैं—भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में धर्म के दो विभाग माने गए हैं—मोक्ष धर्म और व्यवहार या संसार धर्म। पारलौकिक आध्यात्मिक या ईश्वर सम्बन्धी विभाग को मोक्ष धर्म और समाज व्यवस्था, समाजोन्नति सम्बन्धी सांसारिक विभाग को संसार धर्म कहा गया है।[2] इसी विषय को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं—एक धर्म वह है जो परम सत्य तक पहुँचने का साधन है। जैसे—प्राणीमात्र के प्रति आत्म भाव रखना, सबको अपने जैसा समझना, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय आदि का पालन करना। एक धर्म है, कर्तव्य—जैसे माता पिता की सेवा करना पुत्र का धर्म है। पड़ोसी की ओर दीन दुखियों की सहायता करना या प्रतिज्ञा-पालन करना मनुष्य का धर्म है।[3]

जीवन का परम उद्देश्य सुख है। सुख को दो भागों में विभक्त करते हुए वे कहते हैं—धन वैभव, राज्य, पुत्र-सन्तति, कीर्ति, मान-सम्मान, पद प्रतिष्ठा आदि सुख शारीरिक भौतिक ऐहिक तथा मानसिक हैं।

मुक्ति, ईश्वर प्राप्ति, शान्ति, सुख, आनन्द, ज्ञान आदि सुख पारमार्थिक या

---

१ भिक्षुजसरसायन गीति २२ व भिक्षु दृष्टान्त सं० १३०

२ स्वतन्त्रता की ओर पृ० २९३

३ स्वतन्त्रता की ओर पृ० २९२

साई व्यक्ति वृद्धावस्था म माता पिता को धार्मिक स्वाध्याय कराता है शब्दादि विषयों म अरुचि उत्पन्न कराता है और ज्ञान, दर्शन आदि आत्म गुणो म लीन करता है यह सेवा पारमार्थिक है।[1]

जगल म राह भूल व्यक्ति को कोई राह बता देता है या उस कन्धा पर बिठा कर उसके घर पहुचा देता है यह आधिभौतिक उपकार है।[2]

ससाररूप अटवी म भटकते हुए मनुष्य को कोई ज्ञान माग बता देता है, उसका पाप भार दूर कर देता है और उसे आनन्दपूवक मुक्ति पहुचा देता है यह धार्मिक उपकार है।[3]

प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वित माग

आचाय भिक्षु की धम के विषय म जिस प्रकार आधिभौतिक और आध्यात्मिक उभय स्वरूपात्मक व्याख्या रही इसी प्रकार दया दान सेवा आदि सभी व्यापक शब्दो को लौकिक और लोकोत्तर भेदों म बाट देने की मीमासा रही। उन्होने मुनि जीवन को निकेवल अध्यात्म साधक माना और गृही-जीवन को निवृत्ति और प्रवृत्ति का एक समन्वित माग।

गृही-जीवन के उभयात्मक रूप को स्पष्ट करते हुए उन्होने एक बहुत ही सरल और भावबोधक उदाहरण दिया। किसी नगर म एक धनवान् सेठ रहता था। उसके दो पत्नियां थी। दोनो की ही सेठ के प्रति अत्यन्त आत्मीयता थी। दो पत्नियां होकर भी सेठ का दाम्पत्तिक जीवन सुख-पूण था। उन दोनो म एक आध्यात्मिक दृष्टि को समझनेवाली थी और दूसरी इससे सवथा अनभिज्ञ थी। अकस्मात् सेठ का शरीरान्त हो गया। घर मे कोलाहल मचा। पारिवारिक लोग एकत्रित हुए। प्रथम स्त्री धम-ममज्ञा थी। उसने सोचा यह ससार की नश्वरता है, इसे कोई टाल नहीं सकता। दिवगत आत्मा के प्रति मोह आसक्ति और मात्र

---

१ कोइ मात पिता नें इण रीते, जिन धिन कर नें धम सुणाव।
ग्यांन दरसण चारित त्यांन पमाव काम भोग शब्दादिक सव छोडाव॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १६

२ गहस्थ भूलो उज्जड वन में, अटवी नें वले उजाड जाव।
तिणनें मारग बताय न घरे पाहुचाव, वले कांधे हुव तो कांधे बेसाव॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा २४

३ ससार रूपणी अटवी में भूला म ग्यांनादिक सुध मारग बताव।
सावद भार म अलगो मेलाए, सुखे सुखे सिवपुर में पोंहचाव॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा २५

ध्यान करके मैं क्यो अपनी आत्मा का वचन म डालू। मुझ अपनी राग वृत्ति पर विजय पानी चाहिए। वह स्वाध्याय ध्यान जप आदि म लीन हो गई। दूसरी स्त्री ने अपने अनुराग का और सासारिकता का मुक्त प्रदशन होने दिया। सर पीटना छाती कूटना हृदय द्रावक शब्दों म विलापात करना आदि सब किए। आने वाले लोग परस्पर यही चर्चा करने घर से वापिस होने देखे गए—सही पति भक्ता तो यही है। इसीको अपार कष्ट हुआ है। उसके तो मानो वह कुछ लगता ही नहीं था। वह तो अपने स्वाथ की प्रतिभक्ता थी। किसी एक तत्त्वज्ञ ने यह भी कहा, उसका विवेक उसकी साधना बहुत ऊची है। उसने दशन और धम के अध्ययन से जीवन की नश्वरता का जो पाठ पढा है उस जीवन म भी उतारा है। रोने-पीटनेवाली तो सहस्रों स्त्रियां मिलेंगी इस प्रकार की ममविद् तो कोई विरली ही मिलती है। आचाय भि ा कहते हैं यह लोक-दृष्टि और लोकोत्तर दृष्टि का भेद है।[1]

धम के दो विभाग

सुप्रसिद्ध गाधीवादी विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखते हैं—भारतीय प्राचीन ग्रथों म धम के दो विभाग माने गए हैं—मोक्ष धम और व्यवहार या ससार धम। पारलौकिक आध्यात्मिक या ईश्वर सम्बन्धी विभाग को मोक्ष धम और समाज-व्यवस्था समाजोन्नति सम्बन्धी सासारिक विभाग को ससार धम कहा गया है।[2] इसी विषय को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं—एक धम वह है जो परम सत्य तक पहुचने का साधन है। जसे—प्राणीमात्र के प्रति आत्म भाव रखना सबको अपने जसा समझना अहिंसा ब्रह्मचय सत्य अपरिग्रह अस्तेय, आदि का पालन करना। एक धम है कतव्य—जसे माता पिता की सेवा करना पुत्र का धम है। पडौसी की और दीन दुखियों की सहायता करना या प्रतिज्ञा पालन करना मनुष्य का धम है।[3]

जीवन का परम उद्देश्य सुख है। सुख को दो भागों मे विभक्त करते हुए व कहते हैं—धन, वभव राज्य पुत्र-सन्तति, कीर्ति मान-सम्मान, पद प्रतिष्ठा आदि सुख शारीरिक भौतिक ऐहिक तथा मानसिक हैं।

मुक्ति ईश्वर प्राप्ति शान्ति सुख आनन्द, ज्ञान आदि सुख पारमार्थिक या

---

१ भिक्षुजसरसायन गीति २२ व भिक्खु दृष्टान्त स० १३०
२ स्वतन्त्रता की ओर पृ० २६३
३ स्वतन्त्रता की ओर पृ० २६२

आध्यात्मिक हैं।[1]

द्वेष और राग की परख

चिन्तन के क्षेत्र में आचार्य भिक्षु की मान्यता जरा भी अपूर्व या अनघड़ नहीं है। अतीत और वर्तमान के अनेकों चिन्तकों एवं विचारकों ने उसी क्रम से सोचा माना और लिखा है। आचार्य भिक्षु को इस यथार्थ और सर्वसम्मत जैसी मान्यता के निरूपण में अनेकों विरोध सहने पड़े। इसका कारण लोगों का साम्प्रदायिक अभिनिवेश था। आचार्य भिक्षु की दृष्टि में राग को समझने की क्षमता थी। उन्होंने कहा—किसी व्यक्ति ने किसी एक बालक के सिर में चपेटा मारा। देखनेवालों ने कहा—भले मानस! यह क्या करते हो? किसी एक व्यक्ति ने बालक के हाथ में मोदक या मूला दे दिया। देखनेवाला न टोका नहीं प्रत्युत वे खुश हुए। इस प्रकार द्वेष को परखना बहुत सहज है पर राग की यथार्थता को परख लेना कठिन है।

गृहस्थ सब कुछ आध्यात्मिक ही करे और समाजोपयोगी या लौकिक कार्य करे ही नहीं यह आचार्य भिक्षु का आग्रह नहीं था। उनका कथन था वणिक अपनी दुकान पर बैठकर नाम और जमा का हिसाब बराबर नहीं समझता और नहीं रखता तो उसकी दुकान नहीं चलती। जीवन भी एक व्यापार है। उसमें हरएक व्यक्ति के पास विवेक चक्षु होना चाहिए कि वह लौकिक और लोकोत्तर के संतुलन व वैषम्य को समझकर अपने आपको सम्भालता रहे।

एक सन्तुलित जीवन दर्शन

तर्क और चिंतन के राजपथ पर

महाशास्ता गौतम ने कहा—भिक्षुओ! मैं जो कुछ कहता हूं वह परम्परागत है इसलिए सच मत मानना, लौकिक न्याय है ऐसा मानकर सच मत मानना सुन्दर लगता है ऐसा मानकर सच मत मानना तुम्हारी श्रद्धा का पोषक है इसलिए सच मत मानना हमारे शास्ता का कहा हुआ है यह मानकर सच मत मानना, किन्तु तुम्हारा हृदय और मस्तिष्क जिस बात को विवेकपूर्वक ग्रहण करते हों उसे ही सत्य मानना।[2]

महाकवि कालिदास ने कहा—सब कुछ प्राचीन ही यथार्थ नहीं है। न सब कुछ नवीन ही यथार्थ है। विज्ञजन अपने परीक्षा बल से यथार्थ को ग्रहण करते हैं।

---

१ स्वतन्त्रता की ओर पृ० २६४ पर किए गए विवेचन से

२ अंगुत्तर निकाय—कालाम सुत्त

मूढजन ही केवल इतर विश्वासों के अनुयायी होते हैं।[1]

वर्तमान युग का एक स्वस्थ विचारक इस बात को और भी बलपूर्वक कहेगा— यथार्थता की अन्तिम कसौटी हमारा अपना विवेक ही हो सकता है।

विवेचन की परिपाटी

शास्त्रों ने अमुक विषय में क्या कहा, दूसरे विचारक और विद्वान् इस विषय में क्या कह रहे हैं, विवेचन की इस परिपाटी को मान्यता इसलिए दी जाती है कि वह हमारे नए चिन्तन की प्रेरक भूमिका बनती है। यदि ऐसा न होता तो एक पंचवर्षीय बालक भी किसी विषय पर इतना ही प्रशस्त सोच सकता जितना कि एक पारंगत पण्डित। पर ऐसा इसलिए नहीं होता कि उस बालक के मस्तिष्क में तत्सम्बन्धी अध्ययन की वह भूमिका नहीं है जिस पर वह अपना नया चिन्तन अंकुरित कर सके। वर्तमान पीढ़ी यदि प्राचीन की थातियों से कुछ भी नहीं लेती होती तो ज्ञान विकास की दृष्टि से प्राक्तन और चिरन्तन पीढ़ी में ज्ञान विकास की कोई तरतमता ही नहीं बनती। स्वतन्त्र और तर्क प्रधान चिन्तन का अर्थ सिमिट कर केवल इतना ही रह जाता है—जिस विषय में अब तक जितना सोचा जा चुका है उसके साथ अपनी बुद्धि का नवीन मत वह और बिठा दे। आधुनिक विज्ञान भी इसी क्रम से विकसित होता रहा है। न्यूटन और गैलेलियो की ज्ञान भूमि पर खड़े होकर ही आइंस्टीन ने अपना बुद्धि संयोजन से विश्वमान्य सापेक्षवाद को जन्म दिया है। यह ठीक है स्वस्थ सिद्धान्त निःकेवल वही है जो बिना किसी पर आलम्बन के अपने बूते पर खड़ा रह सके। उतना ही सत्य यह है—दो विचार पारस्परिक संगति पाकर और अधिक प्रभावशाली बन जाते हैं। दीप वह है जो अपनी बत्ती और तेल के सहारे पर जलता है और प्रकाश देता है। किसी विशेष हेतु से यदि इधर उधर बिखरे दीपों को कोई सावधान व्यक्ति एक ही आलय विशेष में सजाकर रख दे तो क्या वह आलय अधिकाधिक नहीं जगमगा उठेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अब तक हम उन शास्त्राधार और व्यक्ति वैशिष्ट्य के दृष्टिकोणों से शोध करते रहे हैं। अब हम इसी विषय को निरपेक्ष चिन्तन की कसौटी पर कसना है।

जीवन : सराय का बसेरा

कुछ एक विचारक कहते हैं जीवन को लौकिक और लोकोत्तर आदि भागों

---

१ पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

म विभक्त करना उचित नहीं। जीवन के मूल में नाना अपेक्षाएं शाश्वत हैं ही। जीवनगत समीक्षा म उन्हें भुलाया नही जा सकता। प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ की यह उक्ति यथार्थ है—यदि स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्[1]—यदि सापेक्ष स्थिति स्वय पदार्थों का अभीष्ट है तो हम उन्हे निरपेक्ष स्थिति म बनाने वाले कौन ? भारतीय दर्शन की यह सुस्थिर मान्यता है—मनुष्य जीवन एक सराय का बसेरा है। उसका परम लक्ष्य तो चौरासी लक्ष जीवयोनि के चक्र से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करना है। मंजिल और सराय एक नही हो सकते। पथिक को दोनों की अपेक्षाएं समझकर बरतना होगा। सराय मे ठहरा पथिक दिनों और पहरों की अवधि के लिए एकत्रित जन समुदाय का एक अंग होगा। वहां की व्यवस्था का वह पूर्ण पालक होगा। एकत्रित लोगों से भाईचारा निभाएगा। वहा की व्यवस्था को और अधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न करेगा। एक विवेकशील बटोही अपने इन कर्तव्यों से चुकेगा नहीं। साथ साथ अपने आपको वहा वह इतना भी समर्पित नहीं कर देगा कि उसकी मंजिल जहां की तहां धरी रह जाए। अपनी शक्ति और अपनी सम्पत्ति का सन्तुलित उपयोग वह अपने सराय के बसेरे को सुविधापूर्ण बनाने के लिए करेगा। शेष शक्ति व सम्पत्ति को मंजिल तक पहुंचने के लिए बचा रखेगा। पथिक का यह मान लेना भ्रम ही होगा कि मेरी अन्तिम मंजिल यह सराय ही है और मुझे यहा की सुख सुविधा के लिए ही न्योछावर हो जाना है।

नये जीवन दर्शन का ज्वलन्त प्रश्न

युग बदला है। स्थितियां बदली हैं। मनुष्य के विश्वास बदले हैं। परिणाम स्वरूप समाज व्यवस्था भी नई करवटें ले रही है। जीवन के नये मूल्य स्थापित किए जा रहे हैं। भारतवर्ष निकट भूत में स्वतन्त्र हुआ है। जीवन की नूतन व्यवस्थाओं की ओर अग्रसर हो रहा है। भारतीय जनता के सामने नये जीवन दर्शन की सृष्टि का ज्वलन्त प्रश्न है। ऐसे सामुदायिक और समताप्रधान समाज दर्शन भी इस युग के आकर्षण बन रहे हैं जिनमें साधन की हेयोपादेयता पर कोई विचार नहीं है। साध्य ही जहा केवल आंखो से दिखनेवाला पार्थिव जगत है। आत्मा और चैतन्य तो विरोधी जड़ों के गुणात्मक परिवर्तन के परिणाम हैं।[2]

भारतीय मानस चेतन की शाश्वतता का विश्वास नहीं खो सकता। क्षितिज के उस पार को भुलाकर न ही वह इस छोटे-से घेरे म चेतन की अथ से इति मान सकता है। क्षण स्थायी वर्तमान के लिए अनन्त भविष्य को भुला देना वह बराबर घाटे का सौदा समझेगा। साथ-साथ उस दूरवर्ती विश्व की चिन्ता म इस प्रत्यक्ष

१ धर्मकीर्ति रचित प्रमाणवार्तिक २ २०६
२ विशेष विवेचन के लिए देखें—जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान

की बात न हो, परन्तु किसी एक प्राणी को मारकर दूसरे को सुख सुविधा पहुंचाने की बात प्रत्यक्ष स्वार्थपूर्ण ही है। अनासक्ति और निष्कामता का यथार्थ निर्वाह भी तथा प्रकार की हिंसाओं में यथार्थ रूप से नहीं हो सकता। कुछ को मारकर कुछ के संरक्षण में रागात्मक कामना और आसक्ति तो है ही।

यह प्रश्न तो उचित हो सकता है कि उक्त प्रकार की अनिवार्य हिंसाओं के बिना समाज का धारण कैसे हो सकता है? शासन मुक्त समाज की परिकल्पना भी विकसित हुई है जिसमें समाज धारणा की बहुत सारी हिंसाएं विघटित हो जाती हैं। पर यह एक बहुत दूर की बात है। जन जीवन के वर्तमान स्तर में जो हिंसाएं अपेक्षित हैं समाज शास्त्र की दृष्टि से उन्हें तो एक नीति का अंग मानना ही पड़ता है। उस सामाजिक जीवन में हिंसा और अहिंसा की तरह त्याग और भोग, प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वार्थ और परमार्थ साथ-साथ चलते हैं। व्यक्ति अपने समाज और मोक्ष के उद्देश्य युग्म की साधना भी जाता है और एक के लिए दूसरे की स्वरूप हानि भी नहीं करता। वह समाज में रहकर भी स्वतन्त्र रूप से मोक्ष साधना करता है पर उससे सामाजिक सहजीवन में कोई विक्षोभ या विघटन नहीं आने देता। सामाजिक मर्यादाओं का वह इसलिए पालन करेगा कि उसने अपने आपको समाज का एक अंग माना है। वह हिंसा परक और अहिंसा परक सामाजिक नियमनों का कर्तव्य भाव से पालन करता ही रहेगा। कर्तव्य भावना से वह दया, परोपकार दान करुणा आदि के लौकिक और लोकोत्तर स्वरूप को यथावत समझता भी रहेगा और दोनों अपेक्षाओं से सम्बद्ध होने के कारण उन्हें करता भी रहेगा। धर्म और समाज का यही सम्बन्ध यौक्तिक और यथार्थ लगता है।

निर्हेतुक भय

कुछ लोगों को भय है समाज धारण सम्बन्धी प्रवृत्ति प्रधान कार्यों का धर्म के अन्तर्गत न रखने से लोग सामाजिक अपेक्षाओं से विमुख हो जाएंगे और समाज दिन प्रतिदिन विशृंखल और दुःखमय बनता जाएगा। समाज सुखी बने या नहीं, यह एक पृथक चिंता है और प्रवृत्ति जन्य कार्य अध्यात्म कोटि में आते हैं या नहीं यह एक पृथक प्रश्न है। असाधन को साधन मानकर चलना उचित नहीं। धर्म यदि समाज की समस्त अपेक्षाओं का पूरक साधन है ही नहीं तो उसे उस रूप में जोड़ लेना यथार्थ भी नहीं और श्रेयस्कर भी नहीं। आंख की दवा आंख में और जीभ की दवा

जीम पर ही यथार्थ हानी है।[1] लोग समाजोपयोगी कार्यों से विमुख हो जाएंगे यह आशंका भी सगत नहीं है। जिन दर्शनों में धर्म समाज-व्यवस्था का या परलोक सिद्धि का अंग माना ही नहीं गया है उन दर्शनों में भी लोग कर्तव्य भावना से समाज हित के सभी कार्य करते हैं और वर्तमान भारतीयों से कहीं अधिक निष्ठा के साथ।

सामाजिक परिणाम भी असुन्दर

सामाजिक अभिसिद्धियों के लिए भारतवर्ष में धर्म का उपयोग होता रहा है। निष्कर्ष रूप में इसके लौकिक परिणाम भी सुन्दर नहीं रहे हैं। हिन्दू धर्म में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के समस्त क्रिया-कलापों को धर्म का अंग बता दिया गया। आज उसका परिणाम यह है कि नाना रूढ़ियां नाना अन्धविश्वास और नाना असामाजिक प्रथाएं भी धर्म के नाम पर चल रही हैं। देश काल के अनुसार लोग अपने जीवन क्रम में थोड़ा भी परिवर्तन लाने के लिए उत्सुक नहीं देखे जाते।

मानव जीवन व्यष्टिपरक से समष्टिपरक बना। परिवार ग्राम समाज और देश बने। अनाथ अपाहिज व अकर्मण्य लोगों की संख्या बढ़ी। इन्हें रोटी दो, दान करो, गरीबों पर दया करो। परोपकार ही अष्टादश पुराणों का सार है। यही सर्वोत्तम पुण्य कर्म है।[2] समाज में भावमयी बढ़ी, अकर्मण्यता बनी और उच्छृंखलता के ठाठ बढ़े। स्थिति यहां तक पहुंच गई तथारूप प्रत्येक राष्ट्र के लिए भीख मांगी एक ज्वलन्त समस्या बन गई। नाना नियमनों के निर्धारण में भी उसका नियमन दुष्कर हो रहा है।

करुणा और सेवा

करुणा का पूरक सेवा शब्द समाज में आया। उपकारक को अपना अहं सम भने का अवसर मिला। सेवा भावी संस्थाएं बनी। जीवन दानी समाज-सेवक बने। वे जनता की शिक्षा स्वास्थ्य आदि से सम्बन्धित अनिवार्य अपेक्षाओं के जुटाने में लगे। महात्मा ईसा ने कहा था सूई की नोक से ऊंट निकल सकता है पर धन

---

१ जीभ रो ओषद आंख्यां में घाल्यो, आख्यां रो ओषद जीभ में घाल्यो रे।
तिण रो आंखई फूटी ने जीभई फाटी दोनूं इज्जी खोय घाल्यो रे॥
—व्रतावत चौपई ग ति ४० गाथा ४

२ अष्टादश पुराणानां सारं सार समद्धृतम्।
परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

वान् को स्वर्ग नहीं मिल सकता। यहां दान करुणा और सेवा के आवरण में अनिवार्य की तीनों मंगल मिले। आदि मंगल—समाज में प्रतिष्ठा, मध्य मंगल—संग्रह और शोषण की अवधि का विस्तार हो जाना अन्त मंगल—स्वर्ग में भी ऊंचा स्थान प्राप्त कर लेना।

सेवा और दान की अपेक्षा नहीं

दया, दान आदि के विचार सामाजिक अपेक्षाओं पर खड़े थे पर आज के परिवर्तनशील युग में वे अपेक्षाएं बदल चुकी हैं। पिछले युग ने दानियों को उच्चता की अनुभूति से ऊपर उठने का विवेक दिया। दया दान और परोपकार के बदले जन जन का सेवक होकर रहने की बात कही। वर्तमान युग ने मनुष्य को यह बोध दिया है जिससे वह किसी के द्वारा सेवा लेकर उपकृत होने की बात से हीनता की अनुभूति करने लगा है। समानता व स्वतन्त्रता को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानने लगा है। वह अपने जीवनयापन के लिए सेवा कराना और दान नहीं चाहता। वह अपने सामाजिक अधिकार की भूमि पर ही अपने जीवन की गाड़ी को खींचना चाहता है। जन मानस की उद्दीप्त प्रेरणा ने सारा समाज शास्त्र बदल डाला है। 'कुछ आदमी सोचते हैं कि हम अपने काम से इतनी अधिक आय होनी चाहिए कि हम दान धर्म तीर्थ यात्रा आदि अच्छी तरह कर सकें। समय-समय पर ब्राह्मण भोज व जातीय भोज कराकर उसका पुण्य ले सकें। यह समझ ठीक नहीं। अनुचित कार्य कर धन कमाना और उस धन से कुछ पुण्य प्राप्त करने की कोशिश करना वैसा ही है जैसा कीचड़ में पांव रखकर पीछे उसे धोने की कोशिश करना। सात्विक ईमानदारी या मेहनत का काम करने वालों को दान-पुण्य आदि की चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिए। उनका काम ही यज्ञ रूप है।'[1]

महात्मा गांधी कहते हैं—बिना प्रामाणिक परिश्रम के किसी भी चंगे मनुष्य को खाना देना मेरी अहिंसा बर्दाश्त नहीं कर सकती। अगर मेरा बस चले तो जहां मुफ्त खाना दिया जाता है, ऐसा प्रत्येक सदाव्रत या अन्न छत्र बन्द करा दूं।[2]

आचार्य विनोबा भावे कहते हैं—दुनिया में बिना शारीरिक श्रम के भिक्षा मांगने का अधिकार केवल सच्चे संन्यासी को है। सच्चे संन्यासी तो जो ईश्वर भक्ति के रंग में रंगा हुआ है—ऐसे संन्यासी को ही यह अधिकार है। क्योंकि ऊपर से देखने से यह भले ही मालूम पड़ता हो कि यह कुछ नहीं करता पर अनेकों दूसरी बातों से वह समाज की सेवा करता है। ऐसे संन्यासी को छोड़कर किसी

१ सर्वोदय दैनिक जीवन में पृ० ४०

२ सर्वोदय दिसम्बर ३८ गान्धीवाणी पृ० १४३

को अकर्मण्य रहने का अधिकार नहीं है।[1]

आधुनिक समाज शास्त्र में

आधुनिक समाज शास्त्र मानता है—समाज सेवा का अर्थ अजनतान्त्रिक समाज व्यवस्था में मान्यता प्राप्त दान पुण्य नहीं है। दान प्रवृत्ति का आविर्भाव दया की भावना पर आधारित होता है और दया सदैव दुखित और पीड़ित की सहानुभूति में पैदा होती है। जब मानव-वेदनाएँ नष्ट हो जाएगी तब दया और दान के लिए कोई अवसर ही न रहेगा। किन्तु ऐसा हो जाना अजनतान्त्रिक समाज-व्यवस्थाओं में कभी सम्भव नहीं है। प्राचीन समाज-व्यवस्था में जाति और वर्ग के भेद मूलभूत हैं। वहाँ निम्न वर्ग होता ही है और वही दया और दान का भाव जागृत करता है। उस समाज व्यवस्था में दान एक अनिवार्य गुण हो जाता है और वह मनुष्य के दुखों पर पलता हुआ बना ही रहना चाहता है। रामायण की एक घटना वस्तु स्थिति पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाल देती है। राम लंका विजय कर सीता को लेकर जब अयोध्या आए तब एक विशेष समारोह आयोजित किया गया। राम ने एक एक करके सभी वीरों को बुलाया और उन्हें यथोचित रूप से सत्कृत किया। आश्चर्य की बात यह रही कि राम ने सर्वोत्कृष्ट भक्त हनुमान को अपने सम्मुख नहीं बुलाया। किसी सभासद के याद दिलाने पर राम मुस्कराये और हनुमान को बुलाया। सभी सभासदों की आँखें राम और हनुमान पर टिक गईं। राम ने कहा—बोलो क्या चाहते हो? हनुमान बोले बस यही कि सदा की भाँति आपकी सेवा करता रहूँ। राम बोले—हे हरि! जो कुछ भी तूने मेरे लिए किया है वह मेरे साथ ही समूल नष्ट हो जाने दे। जो व्यक्ति दूसरे का भला करना चाहता है, वह उसका दुख चाहता है।

दान-पुण्य और जनतन्त्र व्यवस्था

दान पुण्य जनतन्त्र व्यवस्था के प्रतिकूल है क्योंकि यह दया पर आधारित है। दया के भाव तभी जागृत होते हैं जबकि दूसरों को अपने से हीन या निम्न समझा जाता है। जनतन्त्र में कोई ऊँचा या नीचा नहीं होता। प्राचीन अजनतान्त्रिक समाज-व्यवस्थाओं में सम्पन्न लोगों को दरिद्र लोगों पर दया करना और अपनी कमाई में से थोड़ा-सा भाग उनके लिए रख लेना सिखलाया जाता है जबकि दयापात्र दरिद्र लोगों को दूसरे जन्म में सुखपूर्ण जीवन का आश्वासन दिया जाता है। आशीर्वाद प्राप्त वे हैं, जो कि यहाँ शापग्रस्त हैं, क्योंकि वे अगले जन्म में

---

१ विनोबा भावे के विचार पृ० १२०

लाभान्वित किए जाने वाले हैं।' 'यहां जो अंतिम है, वह अगले जन्म में प्रथम होगा और यहां जो प्रथम है, वह वहां अंतिम होगा।' प्राचीन समाज-व्यवस्था जो कि समता और स्वतन्त्रता से रहित है उसकी नीति और दर्शन के अनुसार जो उपदेश दिया जाता है वह वास्तविक समाज सेवा नहीं है। जनतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक मूल्यांकन में एक दूसरे के समान है इसलिए कल्याण का अर्थ है—सभी का समान मात्रा में कल्याण। गलियों का स्वच्छ रहना स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक है तो सभी गलियों को स्वच्छ रखना होगा, न कि केवल उन गलियों को जिनमें नगरपालिका के सदस्य रहते हैं। यदि चिकित्सा निशुल्क है तो वह सभी के लिए निशुल्क है।

'इस भावना को चरितार्थ करने के लिए विशेष संस्थानों की अपेक्षा है। दुनिया के कुछ विशेष भागों में तत्सम्बन्धी कुछ विशेष प्रयोग हुए हैं—स्वास्थ्य प्रवृत्तियां इस प्रकार से चलाई गई हैं जिनमें रोगी के प्रति दया, आभार या वैषम्य नहीं बरता जाता है।

दान और मनुष्य का स्वाभिमान

"दान एक ऐसी प्रवृत्ति है जो मनुष्य के स्वाभिमान को नीचा करती है। वह पराश्रितों की संख्या बढ़ाती है। हम देखते हैं—रास्तों पर भिखारी अपाग, रोगी सहायता के लिए चिल्लाते हैं। उनमें से अधिकांश ऐसे लोग हैं जो ढोंग रचकर दान प्राप्त करने में निष्णात हो चुके हैं। ऐसी स्थितियां उस समाज में बनती हैं जिसमें दान को पुण्य माना जाता है और परिणामस्वरूप पराश्रितता को बढ़ावा दिया जाता है। मान लिया जाए—हमारे समाज में हरेक व्यक्ति को जीवन निर्वाह के लिए कमाना होता है पराश्रितता मान्य नहीं है। समाज के सामूहिक प्रयत्न से प्रत्येक व्यक्ति को काम और आजीविका मिल जाती है तो वहां दान का क्या स्थान होगा ? यह क्या आवश्यक है एक व्यक्ति दूसरे के पास दानार्थी हो ? इससे तो असमानता पनपती है जो कि जनतन्त्र को स्वीकार नहीं है।

समाज-कल्याण का अर्थ

"दान कष्टों का नाश नहीं करता। वह दुःखी को एक क्षणिक सन्तोष देता है। जनतान्त्रिक समाज के निर्माण में हम सामूहिक प्रयत्नों द्वारा कष्टों का समूल अन्त करना है क्योंकि यहां सबका सुख अभीष्ट है। इसलिए सबका प्रयत्न भी अपेक्षित है। सब लोगों के सुख निर्माण में सब लोगों ने भाग लिया अतः कोई किसी का अहसानमन्द नहीं है। इस प्रकार मानव का व्यक्तित्व सुरक्षित है।

मनुष्य का स्वाभिमान उस समाज में सुरक्षित नहीं रह सकता, जिस समाज में दान (Charity) अनुकम्पा (Compassion) और दया (Kindness) का ऊंचा मूल्य माना गया है। मनुष्य का स्वाभिमान केवल उस समाज में सुरक्षित रह सकता है जहां मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति सामूहिक और सहयोगिक प्रयत्न द्वारा हो जाती है। सहयोग ही उस समाज का आधार है और उस जनतन्त्र में यही सर्वोत्कृष्ट गुण है।

इस प्रकार जनतन्त्र में समाज कल्याण का पथ होता है—बिना किसी आभार, दया, अनुकम्पा और दान किए बिना सार्वजनिक पुण्य व सामुदायिक प्रयत्नों द्वारा सामुदायिक कल्याण।[1]

समाजोपयोगिता और अध्यात्म

दान, दया और सेवा आदि समाजोपयोगी हैं, केवल व्यावहारिक दृष्टि से धर्म और अध्यात्म की कोटि में रख लेना ठीक नहीं है। करुणा प्रधान होने से ये समस्त व्यवहार आध्यात्मिक हैं, इसलिए इन्हें समाज में अधिक-से-अधिक फैलाया जाए, यह दृष्टि भी उचित है। वर्तमान समाज-व्यवस्था एक वर्ग को दूसरे वर्ग के लिए व एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के लिए आभारी और अधीन बनाकर नहीं छोड़ देना चाहती। हीनता और उच्चता के पोषक समस्त व्यवहारों को वह समूल मिटा देना चाहती है। अध्यात्म का स्वरूप व्यापक है। सामाजिक लोगों को उसका पालन में यह अवश्य देखना होता है, अमुक पहलू आध्यात्मिक होते हुए भी नितान्त समाज विरोधी तो नहीं है। पिता के प्रति पुत्र का मोह और पुत्र के प्रति पिता का मोह अनाध्यात्मिक तो है ही, पर पुत्र-पालन के लिए सेवा मना करना यह उपदेश तो किसी धर्म या सम्प्रदाय ने जोरों से नहीं उठाया है; इसीलिए न कि उक्त व्यवहार वर्तमान परिवार व्यवस्था के अनुरूप हैं। सुदूर भविष्य में यदि समाज किसी ऐसी व्यवस्था को अपना ले जिसमें पारिवारिकता अपेक्षित न हो तो अध्यात्मवादियों के लिए भी दृढ़तापूर्वक यह कहने का समुचित अवसर बन जाएगा कि पितृ राग और सन्तति राग मिटा ही देना चाहिए।

धर्मोपदेशकों की जागरूकता

धर्म यद्यपि व्यक्ति को समस्त राग-बन्धनों से मुक्त कर मोक्ष तक पहुंचा देना चाहता है पर प्रगतिशील धर्म प्रवर्तक और धर्मोपदेशक समाज और मोक्ष के सम्बन्धों में सदा जागरूक रहे हैं। भगवान महावीर ने धर्म को आगार धर्म और अनगार

---

1 The Psychological Foundations of the State p 10

धर्म, इन दो भागों मे उपदेश दिया है। अनगार धर्म अध्यात्म साधना की परा काष्ठा का जीवन है। वह साधना मुख्यत व्यक्तिगत है। कुछ ही व्यक्ति समाज से पृथक रहकर अपने ध्येय म लीन होते हैं। उनकी माधुकरी जीवन चर्या समाज में कोई असन्तुलन या विक्षोभ पैदा नहीं करती। भगवान् महावीर ने तो इस व्यक्तिगत साधना को सामाजिक रूप दिया। साधु अरण्यवासी होकर सर्वथा समाज निरपेक्ष नही होते। वे समाज के बीच म रहकर अपने आचरणों व उपदेशों स समाज को लाभान्वित करते हैं। समाज से बहुत अल्प लेते हैं और उसे बहुत अधिक देते हैं। आगार धर्म गृहस्थों का है। उनका द्वादश व्रत रूप धर्म जितना आध्यात्मिक है उतना समाजोपयोगी भी। इस प्रकार धर्म समाज से पृथक होकर भी उसकी सद्व्यवस्था म एक आधारभूत नीति का रूप ले लेता है। नीति के रूप म मान्यता प्राप्त हिंसाए क्रमश मिटती जाए और अहिंसा अधिकाधिक विकास पाती रहे यही समाज और धर्म के सन्तुलित जीवन दर्शन का एक स्वरूप है।

रक्षा और उसका विवेक

रक्षा शब्द अधिकांशत प्राण रक्षा के अर्थ म प्रचलित हो चला है। जीवन और मरण संसारी आत्मा के सहज स्वभाव हैं। जीर्ण वस्त्रों का परित्याग कर मनुष्य नवीन वस्त्र धारण करता है आत्मा उसी प्रकार जीर्ण शरीर को छोड़कर नवीन गति म नवीन शरीर धारण करती है।[1] भारतीय दर्शन मे जीवन और मरण का यह लेखा जोखा है। आत्मा अविनाशी है। उसी के ऊर्ध्व सचरण की चिन्ता यहा प्रमुख है। कसाई बकरे को मारने जा रहा है। दर्शक के हृदय म बकरे के प्रति करुणा उत्पन्न होती है। वह करुणाराधक दर्शक आततायी को मार-पीटकर या प्रलोभन आदि देकर बकरे को छुड़ाता है और समझता है मैंने अपनी करुणा का निर्वाह किया है। तत्त्व-दृष्टि म वह यथार्थ करुणा या अनुकम्पा नही है मार-पीट, बलात्कार है। आचार्य भिक्षु के शब्दों में—एक को चपेटा मारना और एक को पुचकारना स्पष्ट रूप से राग और द्वेष हैं।[2] धनादि देकर बकरे को बचाना अध्यात्म तो क्या लौकिक न्याय भी नहीं है। कसाई का हृदय तो बदलता नहीं प्रत्युत वह

---

१ वासासि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ॥

—गीता अध्याय २ श्लोक २२

२ एकण रे देरे चपेटो, एकण रो वे उपद्रव मेटी।
ए तो राग द्वेष नो चालो, दशवैकालिक संभालो ॥

—अनुकम्पा चोपई गीति २ गाथा १७

एक के बदले दो बकरों को खरीदने और मारने का इन्तजाम हो जाता है।

दया का आध्यात्मिक और लौकिक स्वरूप

दया के आध्यात्मिक स्वरूप को समझना तो कठिन है ही सवसाधारण के लिए उसके लौकिक स्वरूप को समझ लेना भी सहज नही है। महात्मा गाधी कहा करते थे—बहुत-से लोग चीटियों को आटा डालकर सन्तोष मानते हैं। ऐसा मालूम होता है मानो आजकल का जीव दया म जान ही नही रही। धर्म के नाम पर अधर्म चल रहा है पाखण्ड चल रहा है।[1]

प्राण रक्षा के सम्बन्ध म महात्मा गाधी ने साधन शुद्धि पर बहुत बल दिया है। वे कहते हैं—यह तो कहीं नही लिखा कि अहिंसावादी किसी आदमी को मार डाले। उसका रास्ता तो सीधा है। एक को बचाने के लिए वह दूसरे की हत्या नही कर सकता। उसका पुरुषार्थ और कर्तव्य तो केवल विनम्रता के साथ समझाने-बुझाने म है।[2]

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की पीठ म छुरा भोंक रहा है, ऐसे प्रसग पर महात्मा गाधी कहते हैं तो क्या हम भी अपराधी की पीठ म छुरा निकालकर भोंक देना चाहिए? मैं समझता हू यह रास्ता भी गलत होगा। हमारे लिए एकमात्र ठीक रास्ता यही होगा कि दुष्टता करने वाले से कहें कि वह निर्दोष रक्त स हाथ न रगे और यदि ऐसा करते समय हम स्वय उसके कोप भाजन बन जाए तो हमें उसका स्वागत करना चाहिए।[3]

साध्य और साधन का विचार

यहा साधन का विचार है पर जिस व्यक्ति को बचाया जा रहा है उस साध्य का नही। आचार्य भिक्षु के मन्तव्यानुसार उस प्राण रक्षा को परम विशुद्ध और आध्यात्मिक रखने के लिए रक्षणीय पात्र का भी विवेक परम अपेक्षित होता है। जिसे हम बचा रहे हैं वह सयति है या असयति व्रती है या अव्रती त्यागी है या भोगी इन तथ्यों के आधार से ही की गई प्राण रक्षा की लौकिकता और लोकोत्तरता आकी जा सकती है। दान देते समय दाता और देय वस्तु की विशुद्धता भी जिस प्रकार अपेक्षित है उसी प्रकार पात्र की विशुद्धता भी। प्राण रक्षा के सम्बन्ध म रक्षक की अभिप्राय शुद्धता व साधन की अहिंसात्मकता जिस प्रकार अपेक्षित है उसी

१ हरिजन बन्धु ता० २६ ५ ४३
२ हिन्द स्वराज्य पृ० ७६
३ हिन्दुस्तान दैनिक

प्रकार रक्षित पात्र की सयमशीलता भी। गृहस्थ का शरीर अधिकरण अर्थात जगम, स्थावर प्राणियो के विनाश का शस्त्र है।[1] उसका सरक्षण या पोषण अध्यात्म गत कैसे हो सकता है? गृहस्थ के जीवन में त्याग की अनिवार्यता नही, भोग तो अवश्यम्भावी है ही। असयत प्राणी के सरक्षण में योग देना असयम में ही योग देना है।

महात्मा गाधी कहते हैं—जो मनुष्य बन्दूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है दोनो में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नही दिखाई पडता। जो आदमी डाकुओ की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता है तब उसकी चौकीदारी करने जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेदार है जितना कि खुद वह डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलो की सेवा करता है वह युद्ध के दोषो से मुक्त नही रह सकता।[2] महात्मा गाधी का यह चिन्तन एक स्थूल घटना पर अभिव्यक्त हुआ है इसलिए सहजतया बुद्धिगम्य होता है। आचार्य भिक्षु का मन्तव्य जीवन व्यवहार की सूक्ष्मता में प्रकट हुआ है अत सर्वसाधारण के लिए सहजगम्य नही होता। पर तु असयमी पुरुष के जीने में योगभूत होना और किसी डाकू या सैनिक के कार्य में योगभूत होना चिन्तन की एक ही दिशा के उदाहरण हैं।

दो मर्यादाए

साधारण दृष्टि में यह अवश्य आता है आचार्य भिक्षु की करुणाधारा मानो चलते चलते रुक ही गई हो। उसके व्यापक प्रसार के लिए कोई विस्तृत अवकाश नही रह गया है। प्राण रक्षा अहिंसात्मक साधना से हो सयति पुरुष की हो ये दो ऐसी सकीर्ण मर्यादाए हैं जिनके बीच से इने गिने लोग ही गुजर सकते हैं। परन्तु आचार्य भिक्षु की दया और अनुकम्पा अपनी परम विशुद्धि के साथ ही सहसा एक

---

१ सूत्र भगवती ने विष सप्तम सतक भेव।
प्रथम उद्देशा में विष दाख्यो श्री जिनदेव॥
सामायक माहें कह्यो श्रावक नी सपेख।
आतम ते अधिकरण इम प्रगट पाठ में लेख॥
शस्त्र जे षटकाय नो, अधिकरण कहिवाय।
तसु सीखो कीधां छतां धर्म पुण्य किम थाय॥
—प्रश्नोत्तर तत्त्व बोध अ० २६, दुहा ६७ ६६

२ गांधीजी, खण्ड दन, अहिंसा प्रथम भाग पृ० ४

एक मार्ग पकड़ सकती है जो पूर्ण यौक्तिक पूर्ण तथा और सर्वाधिक व्यापक है। उसका मन्तव्य है—एक आदमी चोरी कर रहा है, बलात्कार कर रहा है या अन्य कोई दुराचरण कर रहा है, तो वही करुणा या उस व्यक्ति की पतनोन्मुखता के प्रति होना चाहिए। उसकी दुर्गति में प्राप्त न होने वाला व्यक्ति तो सहजतया ही बच जाता है जबकि हम उस दुराचारी की आत्मा को उस पतन से बचाने में सफल होते हैं। कसाई बकरे को मारता है। बकरे का प्राण घात होता है पर आत्म-पतन नहीं। वह यहां से मरकर और किसी श्रेष्ठ योनि को भी प्राप्त कर सकता है। पर वधिक का अधोगमन तो निश्चित है। इस स्थिति में हमारा प्रथम करणीय तो वधक ही होना चाहिए। वधक को पापाचरण से बचा लेने में वध्य का बच जाना तो सहज है ही। इस करुणा में वध्य का हित विघटित नहीं होता और वधक की करुणा हो जाती है। जन साधारण सर्वथा इसके विपरीत चल रहा है। बचाओ और रक्षा करो का ही उत्पात सर्वोपरि हो रहा है। वधक की करुणा से मत मारो का उत्पात प्रस्फुटित होता है। बचाओ की प्रेरणा मत मारो की बात अधिक यौक्तिक और व्यापक है। बचाओ को ध्येय मानने में मारने का भी परोक्ष रूप से स्वीकार होता है। इससे प्राणी वध परम्परा मिटती नहीं। समाज में दो वर्ग हो जाते हैं एक मारनेवाला दूसरा बचानेवाला। मत मारो के उद्घोष को व्यापक करने से समस्या का अन्त निकट होता है।

तीन दृष्टान्त

अहिंसा और धर्म व्यक्ति को पापाचरण से बचाने में सक्षम होते हैं। आचार्य श्री भिक्षु के तीन दृष्टान्त इस विषय में बहुत यथार्थ हैं।[1]

१ एक दुकान के एक भाग में साधुजन ठहरे हुए थे। रात्रि के निस्तब्ध अन्धकार में चार आए। धनवान की तिजोरियों पर डाका मारा। चुपचाप धन निकालकर चलने लगे। साधुओं की नींद टूटी। देखा चोर धन लिए जा रहे हैं। साधु दरवाजे पर आ खड़े हुए। चोर भी सकपकाए, पर देखा सन्त पुरुष हैं इनसे हम कष्ट नहीं होना है। साधुओं ने उपदेश देना प्रारम्भ किया। उनकी वाणी और व्यक्तित्व से प्रभावित चोर बिना कुछ आगा पीछा सोचे उपदेश श्रवण में लीन हो गए। समय की बात थी। तीर खाली नहीं गया। धन की नश्वरता, पर पीड़न के दुःखावह परिणामों को सुनकर वे चोर सज्जन हो गए। भविष्य में कभी चौर्य कर्म करने का व्रत ले लिया। सवेरा होते होते धनवान अपनी दुकान पर पहुंचा। सारा हाल देखकर अवाक् रह गया। चोरों ने कहा—सेठजी, डरने की

---

[1] अनुकम्पा चौपि ५ गाथा १ १०

प्रकार रक्षित पाप की गमनशीलता भी। गृहस्थ का शरीर अधिकरण अर्थात जगम स्थावर प्राणियो के विनाश का शस्त्र है।[1] उसका सरक्षण या पोषण अध्यात्म सगत कैसे हो सकता है? गृहस्थ के जीवन मे त्याग की अनिवार्यता नही भोग तो अवश्यम्भावी है ही। असयत प्राणी के सरक्षण मे योग देना असयम मे ही योग देना है।

महात्मा गाधी कहते है—जो मनुष्य बदूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है दोनो मे अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नही दिखाई पडता। जो आदमी डाकुओ की टोली मे उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, *जब वह डाका डालता है तब उसकी चौकीदारी करने जब वह घायल हो तो* उसकी सेवा करने का काम करता है वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेदार है जितना कि स्वय वह डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध मे घायलो की सेवा करता है वह युद्ध के दोषो से मुक्त नही रह सकता।[2] महात्मा गाधी का यह चिन्तन एक स्थूल घटना पर अभिव्यक्त हुआ है इसलिए सहजतया बुद्धिगम्य होता है। आचार्य भिक्षु का मन्तव्य जीवन व्यवहार की सूक्ष्मता मे प्रकट हुआ है अत सर्वसाधारण के लिए सहजगम्य नही होता। परन्तु असयमी पुरुष के जीने मे योगभूत होना और किसी डाकू या सैनिक के कार्य मे योगभूत होना चिन्तन की एक ही दिशा के उदाहरण हैं।

दो मर्यादाए

साधारण दृष्टि मे यह अवन्य आता है आचार्य भिक्षु की करुणाधारा मानो चलते चलते रुक ही गई हो। उसके व्यापक प्रसार के लिए कोई विस्तृत अवकाश नही रह गया है। प्राण रक्षा अहिंसात्मक साधनो से हो सयति पुरुष की हो, ये दो ऐसी सकीर्ण मर्यादाए हैं जिनके बीच से इने गिने लोग ही गुजर सकते हैं। परन्तु आचार्य भिक्षु की दया और अनुकम्पा अपनी परम विशुद्धि के साथ ही सहसा एक

१ सूत्र भगवती ने विषे, सप्तम शतके मेव।
प्रथम उद्देशा नें विषे, भाख्यो श्री जिनदेव॥
सामायक माहें कह्यो, श्रावक नी सपल।
आतम ते अधिकरण इम प्रगट पाठ में पेख॥
शस्त्र जे षटकाय नो अधिकरण कहिवाय।
तसु तीखो कीधां छतां धर्म पुण्य किम थाय॥
—प्रश्नोत्तर तत्त्व बोध प्र० २६, दुहा ६७ ६९

२ गांधीजी, खण्ड दश, अहिंसा प्रथम भाग पृ० ४

ऐसा मार्ग पकड़ लेती है जो पूर्ण यौक्तिक, पूर्ण यथार्थ और सर्वाधिक व्यापक है। उदाहरणार्थ—एक आदमी चोरी कर रहा है, बलात्कार कर रहा है या अन्य कोई दुराचरण कर रहा है, वहाँ करुणा तो उस व्यक्ति की पतनोन्मुखता के प्रति होनी चाहिए। उसकी दुष्प्रवृत्ति से आक्रान्त होने वाला व्यक्ति तो सहजतया ही बच जाता है जबकि हम उस दुराचारी की आत्मा को उस आत्म-हनन से बचा लेते हैं। कसाई बकरे को मारता है। बकरे का प्राण-घात होता है, पर आत्म-पतन नहीं। वह दया से मरकर आगे किसी श्रेष्ठ योनि को भी प्राप्त कर सकता है। पर वधिक का अधोगमन तो निश्चित है ही। इस स्थिति में हमारा प्रथम करुणा पात्र तो वधक ही होना चाहिए। वधक को पापाचरण से बचा लेने में वध्य का बच जाना तो सहज है ही। इस करुणा में वध्य का हित विघटित नहीं होता और वधक की करुणा हो जाती है। जन संस्कार सर्वथा इसके विपरीत चल रहा है। 'बचाओ और रक्षा करो' का ही उद्घोष सर्वोपरि हो रहा है। वधक की करुणा में 'मत मारो' का उद्घोष प्रस्फुटित होता है। 'बचाओ' की अपेक्षा 'मत मारो' की बात अधिक यौक्तिक और व्यापक है। 'बचाओ' को ध्येय मानने में 'मारते रहो' का भी परोक्ष रूप से स्वीकार होता है। इससे प्राणि-वध परम्परा मिटती नहीं। समाज में दो वर्ग बन जाते हैं, एक मारनेवाला, दूसरा बचानेवाला। 'मत मारो' के उद्घोष को व्यापक करने में समस्या का अन्त निकट होता है।

तीन दृष्टान्त

अहिंसा और दया व्यक्ति को पापाचरण से बचाने में सफल होते हैं। आचार्य श्री भिक्षु के तीन दृष्टान्त इस विषय में बहुत यथार्थ हैं।[1]

१ एक दुकान के ऊपर के भाग में साधुजन ठहरे हुए थे। रात्रि के निस्तब्ध अन्धकार में चोर आए। धनवान की तिजोरियों पर छापा मारा। चुपचाप धन निकालकर चलने लगे। साधुओं की नींद टूटी। देखा, चोर धन लिए जा रहे हैं। साधु दरवाजे पर आ खड़े हुए। चोर भी सकपकाए, पर देखा सन्त पुरुष हैं, इनसे हमें कष्ट नहीं होना है। साधुओं ने उपदेश देना प्रारम्भ किया। उनकी वाणी और व्यक्तित्व से प्रभावित चोर बिना कुछ आगा-पीछा सोचे उपदेश श्रवण में लीन हो गए। समय की बात थी। तीर खाली नहीं गया। धन की नश्वरता पर पीड़न के दुष्परिणामों को सुनकर वे चोर सज्जन हो गए। भविष्य में कभी चौर्य कर्म करने का व्रत ले लिया। सवेरा होते होते धनवान् अपनी दुकान पर पहुँचा। सारा हाल देखकर हैरान रह गया। चोरों ने कहा—सेठजी डरने की

१ अनुकम्पा ढाल ५ गाथा १ १०

बात नहीं है। साधुजी ने हम और आपको, दोनों को बचा लिया है आपकी धन क्षति बची है और हमारा आत्म-पतन बचा है। सेठ साधुजनों के चरणों में गिर पड़ा और अपनी हार्दिक कृतज्ञताएं व्यक्त करने लगा।

यहा साधुओं की प्रवृत्ति में दो परिणाम निष्पन्न हुए हैं—चोरों की आत्मा पापाचरण से बची है और सेठ का धन चोरी होने से बचा है। धर्म क्या है पहला परिणाम या दूसरा ?

२ एक कसाई कुछ बकरों को साथ लिए कसाईखाने की ओर जा रहा था। सयोगवश साधुओं से साक्षात्कार हो गया। साधुओं ने उपदेश दिया—तुम्हारा प्राण वियोजन तुम्हें जैसा लगता है इन बकरों को भी अपना प्राण वियोजन वैसा ही लगता है। क्या इस तुच्छ जीवन के लिए निरपराध प्राणियों की हत्या से अपने हाथ रगते हो। और भी तो अनेकों आजीविकाएं हुआ करती हैं। कसाई को बात लग गई। जीवन भर के लिए तथारूप नियम हत्या का प्रत्याख्यान कर लिया।

यहा भी कसाई की आत्मा पापाचरण से बची और बकरे अपने प्राण वियोजन से।

साधारणतया लोग कहेंगे, चोरों और कसाई की आत्मा बची, वह भी धर्म और धन और बकरे सुरक्षित रहे यह भी धर्म। इस लोकमत को अयथार्थ प्रमाणित करने के लिए तीसरा उदाहरण दिया गया है।

३ राजमार्ग पर अवस्थित किसी एक दुकान पर साधु ठहरे थे। रात्रि के सन्नाटे में कुछ लोग उन्मत्त गति से चले जा रहे थे। साधुओं ने समझ लिया, वेश्यागामी लोग हैं। *अकस्मात् उनकी दृष्टि भी उन पर पड़ी। सबने प्रणाम* किया। साधुओं ने अवसर पाकर वर्तालाप प्रारम्भ कर दिया। बात वही निकली जो साधुओं की कल्पना में थी। धर्मोपदेश लगा। सबकी आखें खुल गई। अपने प्रति ग्लानि हुई। सदा के लिए व्यभिचार का परित्याग कर लिया। प्रतीक्षा में बैठी हुई वेश्या ऊब गई। वह उनके रास्ते पर चल पड़ी। जहा सब लोग थे, वहा पहुच गई। उसके प्रेमी प्रणबद्ध हो चुके थे। उसे अत्यन्त निराशा हुई। साधुओं पर और अपने प्रेमियों पर झल्लाती हुई पास के एक कुए में जा गिरी।

यहा भी साधुओं के उपक्रम से दो फलित निकले। विषयी लोगों की आत्मा उन्नत हुई और प्रेमिका कुए में जा गिरी। धन का बच जाना और बकरे का बच जाना यदि धर्म है तो प्रेमिका का मर जाना क्या साधुओं के लिए पाप-बन्ध का हेतु होगा ? सारांश चोर कसाई और व्यभिचारी लोगों का आत्म उत्थान धर्म है। शेष परिणाम उपदेश प्रवृत्ति के अवान्तर फलित रूप हैं। उनसे उपदेशक पुण्यभाक् या पापभाक् नहीं बनता।

साधुओं की प्रवृत्ति मोक्षोन्मुख व्यक्तियों को इस भवसिन्धु से तारने की थी, न कि मरते हुए को बचाने की या हिंसक को मारने की। जीवों का सहज जीना और मरना दया या हिंसा नहीं है। मारने की प्रवृत्ति से व्यक्ति हिंसक होता है और नहीं मारने की प्रवृत्ति से दयावान।[1] कोई व्यक्ति नीम आदि वृक्षों को काट गिराने का त्याग करता है, यह धर्म है पर वे वृक्ष खड़े रह जाते हैं वह धर्म नहीं है।[2] कोई लड्डू घेवर आदि खाने का त्याग करता है, यह संयम है, धर्म है पर वे मिष्टान्न बच रहे वह धर्म नहीं है।[3]

आचार्य श्री भिक्षु के हृदय में सारे प्राणियों के प्रति गहरी व्यथा थी। उनका कहना था—दया सभी कहते हैं और दया धर्म उत्तम भी है पर मोक्षोन्मुख वे ही लोग हैं जिन्होंने दया के हार्द को पा लिया है।[4] अनुकम्पा के नाम में ही बहक नहीं जाना चाहिए, उसकी सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा करनी चाहिए।[5] गाय और भैंस का भी दूध होता है और आक व थोहर का भी। आक और थोहर के दूध को पीने से मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार सावद्य अनुकम्पा कर्म-बन्ध का कारण ही होता है।[6]

---

१ जीव जीवे ते दया नहीं, मरे ते हो हिंसा मत जाण।
मारण वाला नें हिंसा कही, नहीं मारे ते दया गुणखाण॥
—अनुकम्पा चौपई ढाल ५ गाथा ११

२ निम्ब अम्बादिक बिरख नों, किण ही किधो हो वाढ़ण रो नेम।
इविरत घटी तिण जीव तणी, वृक्ष ऊभो हो तिणरो धर्म केम॥
—अनुकम्पा चौपई ढाल ५ गाथा १२

३ लाडू घेवर आदि पकवान नें, त्याग छोड्या हो आतम आणी तिण ठाय।
अव्रत घट्यो तिण जीव रे, लाडू रह्यो हो तिण रो धर्म न थाय॥
—अनुकम्पा चौपई ढाल ५ गाथा १४

४ दया दया सहु को कहे, दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नें पालसी, त्यांरे मुगत नजीक॥
—अनुकम्पा चौपई ढाल ८ दुहा १

५ भोलेई मत भूलज्यो, अनुकम्पा रे नाम।
कीजो अन्तर पारखा, ज्यूं सीझे आतम काम॥
—अनुकम्पा चौपई ढाल १ दुहा ४

६ गाय भैंस आक थोहर नो, ए च्यारूंई दूध।
तिम अनुकम्पा जाणजो, राखे मन में सुध॥
—अनुकम्पा चौपई ढाल १ दुहा २

अल्प हिंसा और अनल्प रक्षा

मिश्र धर्म का विचार

अहिंसा के क्षेत्र में मिश्र धर्म का विचार भी बहुत चिन्तनीय है। सामाजिक मनुष्य की अनगिन प्रवृत्तियां तो ऐसी ही हैं जिनमें हिंसा भी है और लोकोपकार भी। ऐसी प्रवृत्तियां सामान्य विचारक के मन में सहसा भ्रम पैदा कर देती हैं। उन्हें धर्म-कार्य कहने में अहिंसा का सिद्धान्त टूटता है और पाप कार्य कहने में करुणा और लोकोपकार का सिद्धान्त। जो लोग यह कहने के लिए तत्पर नहीं होते थे कि थोड़ी हिंसा में यदि अधिक लोगों का लाभ है तो वह पुण्य कार्य ही है उन्होंने ऐसी प्रवृत्तियों को मिश्रधर्म के नाम से कहा। किसी क्षुधातुर व्यक्ति को *मूला खिला देने में वनस्पति के जीवों की हिंसा हुई वह पाप है और व्यक्ति को* सुख मिला, वह धर्म है।[1] कूप और वापी के निर्माण में पृथ्वी जल आदि के जीवों की हिंसा है और तृषातुर लोगों को जल पान से सुख मिला, वह धर्म है।[2]

देखने में यह विचार कितना ही सगत लगे पर अहिंसा के चिन्तन में अधिक स्थायी नहीं हो सकता। सिद्धान्त वह है जो आदि से अन्त तक खरा उतरे। मूला खिलाने और कुआ बावड़ी बनाने के उदाहरण को यदि हम अन्य उदाहरणों के *साथ परखें तो उसकी अयथार्थता स्वयं स्पष्ट हो जाती है।*

१ सौ व्यक्तियों को मूला गाजर आदि खिलाकर बचाया।
२ सौ व्यक्तियों को सचित्त (सजीव) पानी पिलाकर बचाया।
३ सौ व्यक्तियों को अग्नि-ताप देकर बचाया।
४ सौ व्यक्तियों को हुक्का पिलाकर बचाया।
५ सौ व्यक्तियों को पशु मांस खिलाकर बचाया।
६ *सौ व्यक्तियों को पशुओं के मृत कलेवर खिलाकर बचाया।*
७ सौ व्यक्तियों को कसाई करके अर्थात् रक्तौषधि के उपचार विशेष से बचाया।[3]

---

१ पाप लागो मूलां तणो, धर्म हुओ हो साधां बचीया एह।
—अनुकम्पा चोपई गीति ७ गाथा १

२ कहे कुआ बाव खणावियां हिंसा हुई हो तिणरा लागा कर्म।
लोक पीये कुसले रह्या, साता पामी हो तिणरो हुवो धर्म॥
—अनुकम्पा चोपई गीति ७ गा० २

३ अनुकम्पा चोपई गीत ७ गाथा ५ १०

हिंसा की उन्मुक्तता

अल्प हिंसा और अधिक रक्षा के विचार को यहां हिचकना पड़ता है। उक्त सभी कार्यों में धर्म कहने का साहस नहीं हो सकता। एक मनुष्य को मारकर उसके रक्त दान से सौ मनुष्यों को बचा देने की बात अहिंसा और धर्म के क्षेत्र में तो लक्षणा से भी नहीं आ सकती। साध्य की विस्मृतता में यदि साधन को नगण्य और गौण न बनाते हैं तो जीवन-व्यवहार के कुछ एक प्रसंग उलझन भरे मालूम पड़ने लगते हैं पर साध्य की विस्मृतता में साधन शुद्धि की बात को एक ओर छोड़ देने में तो अहिंसा का कोई स्वरूप ही नहीं टिकता। समाज में प्रयोजन सिद्धि के लिए हिंसा मुक्त होकर चलती और उसके साथ असत्य और असदाचार भी। आचार्य श्री भिक्षु कहते हैं—कुछ जीवों को हिंसाकर कुछ जीवों को बचाने में यदि पाप अल्प और धर्म अधिक है तब तो हिंसा की तरह समग्र प्रकार के पाप कार्य भी इस धर्म के साधन रूप हो जाएंगे।[1] कोई असत्य बोलकर जीव बचाएगा तो कोई चोरी करके। कोई अब्रह्मचर्य सेवन से जीव बचाएगा तो कोई धनादि के प्रलोभन से।[2] दो वेश्याएं कसाईखाने पर गईं। वहां होनेवाला जीव संहार देखा। एक ने अपना समस्त गहना देकर सहस्र जीव बचाए। दूसरी ने अपना शील खोकर सहस्र जीव बचाए। अहिंसावादी और हृदय-परिवर्तन में विश्वास रखनेवाला साधननिष्ठ व्यक्ति यहां क्या कहेगा?[3] अल्प हिंसा और अनल्प रक्षा के विचार से तो सिंह और कसाई जैसे हिंसकों को जहां देखे वहीं मारे यह कोई बड़ा धर्म हो जाएगा।[4]

---

१ जो हिंसा करे जीव राखीयां, तिणमें होसी हो धर्म नें पाप दोय।
तो इम अठारेइ जाणजो ए चरचा में हो विरलो समझे कोय॥

—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा २३

२ जीव मारे झूठ बोल नें चोरी करने हो पर जीव बचाय
भले करे अन्याय एहवा मरता राख्या हो मइथुन सेवाय॥

—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा २१

३ दोय वेस्या कसाइवाड़े गई करता देख्या हो जीवां रा संघार।
दोनूं जण्यां मतो करी मरता राख्या हो जीव एक हजार॥
एकण गेंहणो देई आपणों तिण छोड़ाया हो जीव एक हजार।
दूजी छोड़ाया इण विध, एकां दोयां हो चोथो आश्रव सेवार॥

—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा ५१ ५२

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—इस एक ही जीव को मारने से बहुत जीवों की रक्षा होती है ऐसा मानकर हिंसक जीवों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए? और न बहुत जीवों के घाती ये जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप उपार्जन करेंगे इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को मारना चाहिए।[1]

महात्मा गांधी ने भी ऐसे प्रश्नों पर सोचा है। वे कहते हैं—मेरा कोई भाई गोहत्या पर उतारू हो जाए तो मुझे क्या करना चाहिए? मैं उसे मार डालूं या उसके पैर पकड़कर उसे ऐसा न करने की प्रार्थना करूं। अगर आप यह कि मुझे पिछला तरीका अख्तियार करना चाहिए तो फिर अपने मुसलमान भाई के साथ भी मुझे इसी तरह पेश आना चाहिए।[3]

सांप और पड़ोसी

एक बार महात्मा गांधी से यह पूछा गया—आदमी अपनी प्राण रक्षा के लिए सांप आदि हिंस्र प्राणियों को मारे यह हिंसा हो सकती है, पर जो मनुष्य अनेक मूल्यवान प्राणियों को बचाने के लिए सांप आदि को मारे तो वह हिंसा नहीं मानी जानी चाहिए। क्योंकि यदि उसे हम नहीं मारते हैं तो वह अनेकानेक प्राणियों के प्राण लेता ही रहता है।

महात्माजी ने इसके उत्तर में कहा—यह दलील सन्तोष है कि यदि मैं किसी विषैले सांप को नहीं मारूंगा तो वह जरूर ही अनेक आदमियों और स्त्रियों की जान का ग्राहक होगा। यह मेरे वक्तव्य का अंग नहीं कि मैं तमाम विषैले जन्तुओं को ढूंढ-ढूंढकर मारता फिरूं। और न मुझे यह मान लेने की जरूरत है कि मुझे मिलने वाले विषैले सांप को यदि मैं नहीं मारूंगा तो वह किसी राहगीर को जरूर ही डस लेगा। उस सांप और मेरे पड़ोसी के बीच मुझे न्यायकर्ता नहीं बन जाना चाहिए। यदि मैं अपने पड़ोसियों के साथ वैसा ही सलूक करूं जिस सलूक की आशा

---

१ कोइ नाहर कसाइ मारनें, मरता राख्या हो घणा जीव अनेक।
जो गिणे दोयां नें सारिखा थयारी बिगड़ी हो सरधा बात थवक॥
—अनुकम्पा चौपई गीतिका ७ गाथा २७

२ रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्।
बहुसत्त्वघातिनो मी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥

३ हिं द स्वराजपृ० ७६

मैं उनसे करता हूं। यदि मैं उनको किसी ऐसे बड़े खतरे में नहीं डालता, जिसमें मैं हूं तो मैं समझूंगा कि मैंने अपने पड़ोसियों के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा कर लिया। इसलिए जहां अवसर दिया जाता है मैं उस सांप को अपने पड़ोसी के हाथों में नहीं छोड़ूंगा। अधिक-से अधिक यह मैं कर सकता हूं कि सांप को जितना एक तरफ छोड़ा जा सके उतना छोड़कर अपने पड़ोसियों को इस बात की सूचना कर दूं। मैं जानता हूं कि इससे मेरे पड़ोसियों का न तो कोई आराम मिलता न रक्षा ही। पर हम तो मृत्यु के मुंह में खड़े रहकर ईश्वर की राह ढूंढ रहे हैं।[1]

इन्द्रियवाद की मान्यता

हिंसा और अहिंसा के बीच में इन्द्रियवाद को भी लोगों ने एक मानदण्ड मान लिया है। एकेन्द्रिय आदि जीवों की पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा और भोगोपभोग के लिए की जानेवाली हिंसा अहिंसा ही है क्योंकि पंचेन्द्रिय जीव अधिक पुण्यवान और सृष्टि के ऊंचे प्राणी होते हैं।[2] अहिंसा के विवेक में यह विचार नितान्त मिथ्यात्व पूर्ण है। एक ओर प्राणीमात्र की समानता का यथार्थ आदर्श और दूसरी ओर इन्द्रियाधिक्य का यह भेद निरूपण किसी प्रकार संगति नहीं पा सकते। अहिंसा सर्वभूत कल्याणकारी है।[3] उसके साम्राज्य में प्राणीमात्र समान हैं। स्थावर और जंगम सूक्ष्म और बादर, एकेन्द्रिय और अधिकेन्द्रिय की उच्चावचता वहां मान्य नहीं है। मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है यह विचार भी लोकमत का विषय बन गया है। मनुष्य की श्रेष्ठता इतर प्राणियों के बीच विभिन्न अपेक्षाओं से ही है परन्तु जीवमात्र की जिजीविषा अपना स्वतन्त्र मूल्य रखती है। वहां एक के लिए दूसरे का वध मान्य नहीं हो सकता। अन्य प्राणियों की अपेक्षा में जिस प्रकार मनुष्य श्रेष्ठ है उसी प्रकार मनुष्यों में भी अनेकों निकृष्ट और अनेकों श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम हैं। इन्द्रियवाद की तरह यहां भी एक के वध और एक की रक्षा में यह तरतमवाद मान्य करना होगा। ऊंचे लोगों के लिए निम्न लोगों की हिंसा भी अहिंसा बन जाएगी। बहुत बार देश में एक के वध की अनिवार्यता उपस्थित होने पर एक का

---

१ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ८५ ८६

२ केई कहे म्हे हणां एकेंद्री पचेंद्री जीवां रे तांई जी।
एकेंद्री मार पचेंद्री पोख्यां धर्म घणों तिण मांहि जी ॥
एकेंद्री थी पचेंद्री ना, मोटा घणा पुन भारी जी।
एकेंद्री मार पचेंद्री पोख्यां म्हांन पाप म लागे लिगारी जी ॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ६ गाथा १६ २०

३ अहिंसा सव्वभूयखेमकरी

वध स्वीकार किए बिना लोक व्यवहार नहीं चलता। गर्भिणी स्त्री और गर्भ में एक की मृत्यु अनिवार्य होने पर डाक्टर और घर के लोग गर्भिणी की रक्षा को प्राथमिकता देते हैं। यह लोक नीति है। गर्भस्थ प्राणी अल्प वयस्क और अजनबी है। गर्भिणी परिवार का एक चिरन्तन सदस्या है। उसके रहने दूसरी सन्तान होने की भी आशा है पर यह विचार अध्यात्म और अहिंसा का अंग तो नहीं बन सकता। यही लोक नीति मनुष्य और इतर प्राणियों के बीच में बरती जाती है। अग्नि पानी वनस्पति आदि के स्थावर प्राणियों की हिंसा कर गाय भैंस घोड़ा आदि पशुओं को पाला जाता है और मनुष्य की अपेक्षा पशु वध का वनस्पति वध छोटा माना जाता है। अहिंसा में छोटे और बड़े का भेद नहीं होता और जहां इन्द्रिय, उपयोगिता आदि के भेद हैं वहां अहिंसा टिक नहीं सकती।

अहिंसक का उद्देश्य

अहिंसक का उद्देश्य तो हिंसा से सर्वथा मुक्त होने का है पर अपनी साधना दशा में विभिन्न हिंसाओं में से वह कुछ हिंसाओं का चुनाव करता है। अध्यात्म वह है जो उसमें अहिंसा का विकास हुआ है। हिंसामात्र मनुष्य की दुर्बलता है। गांधीजी ने अपने ... में कहा है—हिंसा के बिना कोई देहधारी प्राणी जी नहीं सकता। जीने की इच्छा छूटती ही नहीं है। देह अनशन करे और मन अनशन न करे तो यह अनशन दम्भ में खपेगा। अनशन करके छूटने की इच्छा मन को नहीं है। देह अनशन करे और मन अनशन न करे तो यह अनशन दम्भ में खपेगा और आत्मा को अधिक बन्धन में डालेगा। ऐसी दयाजनक स्थिति में जीने की इच्छा रखता हुआ जीव भला क्या करे? कैसी और कितनी हिंसा अनिवार्य गिने? समाज ने कितनी ही हिंसाओं को अनिवार्य गिनकर व्यक्ति को विचार करने के भार से मुक्त किया। तो भी प्रत्येक जिज्ञासु के लिए अपना क्षेत्र जानकर उसे नित्य छोटा करने का प्रयत्न तो करना बाकी रहा ही है।[1]

मिश्र धर्म पर दो और उदाहरण

मिश्र धर्म पर आचार्य भिक्षु ने सिंह और कसाई के अतिरिक्त दो उदाहरण और दिए। भयंकर सर्प है चूहों को खाता है मनुष्यों को डसता है बहुत सारे पक्षियों के घोंसले उजाड़ देता है किसी व्यक्ति ने म्रियमाण जीवों की अनुकम्पा कर सर्प को मार डाला। क्या यह भी मिश्र धर्म होगा?[2]

---

१ गांधीजी खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १०६

२ तीजो दृष्टान्त स्वामी दियो रे उरपुर एक अजोगो।
घणा ऊंदरां रो गवका करे रे, मनुष्य पहुंचावे परलोको।

कोई पुरुष भयंकर जंगलों में आग लगा देता है, गांव-नगरों को उजाड़ देता है, अनेकानेक जीवों के प्राण लेता है। किसी ने यह सोचकर कि इस एक दुष्ट को मार देने से सबका बचाव होगा, उसे अचानक मार डाला। यदि मिश्र धर्म का सिद्धान्त यथार्थ है तो इस नर हत्या को भी धर्म व पुण्य का हेतु मानना होगा।[1]

साधारण जीव-जन्तु और मनुष्य का भरण-पोषण

आचार्य भिक्षु से किसी ने पूछा—साधारण जीव जन्तु तो मनुष्य के भरण पोषण के लिए ही सरजे गए हैं, इन्हें मारने में क्या दोष? आचार्य भिक्षु ने कहा—इसका अर्थ है—तुम भी किसी शेर के खाने के लिए बनाए गए हो। ऐसा मौका आ पड़ने पर तुम कोई प्रतिकार नहीं करोगे? बिना किसी ननुनच के सिंह के मुंह में चले जाओगे?

व्यक्ति—ऐसा तो मैं नहीं करूंगा।

आचार्य भिक्षु—क्यों?

व्यक्ति—मुझे मरने का भय लगता है।

आचार्य भिक्षु—सभी जीवों को अपने जैसा ही समझो। मरना कोई नहीं

अनेक मार परलोक पहुंचाय, घणा पंचां ना भण्डा दिन खाय।
सप घणा जीवा सताय उत्कृष्ट धूमप्रभा लग जाय जो॥
किण ही विचार इसो कियो रे, सप घणा ने सताय।
एक सप मारयां थकां रे जीव घणा सुख पाय।
जीव घणा सुख पाय सवाणी अनुकम्पा बहु जीवां री जाणी।
सप मार बचाया बहु प्राणी, साय बुझायां कहे मिश्र वाणी।
—भिक्षुजशरसायन गीतिका २० गाथा ७-८

१ चौथो दृष्टांत स्वामी दियो रे, कोई पुरुष नो एहवो आचारो।
बाप मुवां पहली कह्यो रे, काल करंतां तिणवारो॥
काल करतां सुत कहो थो बापां सुत्ते तुम्हारा निसरो प्राणो।
थां लार अटपाविक चालस्यूं जाणो घणा ग्राम नगर कर स्यूं घमसाणो जी।
मनुष्य डांडा घणा मारस्यूं रे बाप न एहवो सुणायो।
पिता पहुंतो परलोक में रे पछ करवा लागो सहु तायो॥
करवा लागो छ जीवां रो घमासाणो, किणहिक मन में बिचारयो जाणो।
एक मारयां सूं बच बहू प्राणो इम चिन्तव ते पुरुष ने मारयो अचाणो जी॥
—भिक्षुजशरसायन गीतिका २० गाथा ९-१०

चाहता।[1]

इसी प्रकार के एक प्रश्न पर गाधीजी लिखते हैं—मुझे यह दलील नास्तिक सी प्रतीत होती है कि परमात्मा ने कुछ प्राणियो को इसलिए बनाया है कि मनुष्य सहज आनन्द के लिए या अपने शरीर के पोषण के लिए उन्हें मारता रहे जो निश्चय ही किसी क्षण नष्ट होने को है।[2]

हिंसा के बिना धर्म नहीं होता ?

आचार्य भिक्षु के पास नाना विचित्र प्रश्न घडकर लाते। वे भी उनका घडा घडाया उत्तर देते। किसी एक व्यक्ति ने कहा हिंसा किए बिना धर्म भी नहीं बन पडता। मान लीजिए—दो श्रावक थे। एक को अग्नि समारम्भ का त्याग था दूसरे को नहीं। दोनो ने चने खरीदे। एक ने उन्हें भूनकर भूगड बना लिए। एक के पास यो ही रखे थे। भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए साधु आए। जिसके पास भूगड थे उसे सुपात्र दान का योग मिला और तीव्र हर्ष से उसने तीर्थंकर गोत्र बाधा। जिसके पास कच्चे चने थे, वह यो ही देखता रहा। इसलिए यह सत्य है कि धर्म की निष्पत्ति में कुछ न-कुछ हिंसा अपेक्षित होगी ही और वह धर्म हेतु हो जाने के कारण धर्म ही मानी जाएगी।

आचार्य भिक्षु ने तत्काल उत्तर दिया—मान लो दो श्रावक थे। एक ने सदा के लिए ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया दूसरा यो ही रहा। अब्रह्मचर्य के सेवन से उसके पाच पुत्र उत्पन्न हुए। साधु गाव में आए। उपदेश सुनकर दो बड़े पुत्रों को वैराग्य हुआ। पिता ने सहर्ष उन्हें सयम ग्रहण की आज्ञा दी। उस हर्ष मे उसने तीर्थंकर गोत्र बाधा। यहा अब्रह्मचर्य भी धर्म का कारण बना। यदि हिंसा धर्म होगी तो अब्रह्मचर्य भी धर्म होगा और निष्कर्ष रूप में ब्रह्मचारी की अपेक्षा भागी व सन्तानोत्पादक पुरुष श्रेष्ठ होगा क्या इस बात को कोई भी विचारक मानेगा ?[3]

राजाज्ञा और अहिंसा

'अमारीपडह'

राजा अपने राज्य में अमारीपडह बजवाता है अर्थात घोषणा करवाता है—राज्य में कोई पशु-वध मत करो। इस घोषणा का उल्लघन करनेवाला सजा पाता

१ भिक्षु दृष्टान्त स० २३६
२ गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ८६
३ भिक्षु दृष्टान्त स० २१०

मास खाया।[1] राज भय से यदि वह ऐसा न भी करता तो क्या वह अहिंसा का पालन करती? कायिक हिंसा भले ही न हो मन से तो वह घोर हिंसा करती ही होती। उस राजकीय नियन्त्रण में रहकर भी व्यक्ति स्वयं के आचरण में अहिंसा की परिणति कर सकता है यदि उसका विवेक प्रबुद्ध हो वह उस नियन्त्रण को विवशता से ग्रहण नहीं करता। वह तो एक स्थूल निमित्त मात्र रह जाता है। वह अपनी अहिंसा निष्ठा से और अपने जागृत विवेक से अहिंसा का पालन करता है। उसके हृदय में विवशता जैसी कोई अनुभूति ही नहीं होती परन्तु राज्य बल प्रधान शक्ति बल पर आधारित आदेश आत्मा को अहिंसक नहीं होने देता, भले ही उसके राज्यानुशासन के कारण कितने ही जीव बच गए हों। अमारी घोषणा, गोवध निषेध आदि लोक-नीति के विषय हैं। जैसे बच्चे को डरा धमकाकर भी क ख सिखलाया जाता है और उसके भविष्य को सुधारा जाता है इसी प्रकार ऐसे अधिनियमों से भविष्य में हिंसा के संस्कार मन्द बनाए जाते हैं। पिता अपने पुत्र को मार-पीटकर भी और बन्धन में डालकर भी धूम्रपान, मद्यपान व वेश्या गमन आदि से बचाता है। वह अहिंसा का आचरण तो नहीं, पर लोक-नीति का आचरण अवश्य कहा जा सकता है। अमारीपटह का भी समाज में यही औचित्य सोचा जा सकता है।

सम्राट अशोक का शासन काल

अमारी घोषणा भी धर्म और अहिंसा का अंग हो सकती है यदि वह मात्र धर्म प्रेरणा ही हो। उसका स्वरूप आदेशात्मक न होकर उपदेशात्मक ही हो। सम्राट अशोक के शासन में उपदेशात्मक और नियन्त्रणात्मक दोनों ही प्रकार काम में लिए जाते थे—विक्रमीय संवत पूर्व १८६ में उसने जीव रक्षा के सम्बन्ध में बड़े बड़े नियम बनाए। यदि किसी भी जाति या वर्ण का कोई भी मनुष्य इन नियमों को तोड़ता था तो उसे बड़ा कड़ा दण्ड दिया जाता था। कुल साम्राज्य में इन नियमों का प्रचार था। इन नियमों के अनुसार कई प्रकार के प्राणियों का वध बिल्कुल ही बन्द कर दिया गया था। जिन पशुओं का मांस खाने के काम में आता था, उनका वध यद्यपि बिल्कुल तो बन्द नहीं किया गया तथापि उनके सम्बन्ध में बहुत कड़े नियम बना दिये गए जिसमें प्राणियों का अन्धाधुन्ध वध होना रुक गया। साल में छप्पन दिन तो पशु-वध बिल्कुल ही मना था।[2]

सम्राट अशोक के एतद्विषयक अधिनियमों का एक ब्योरा इस प्रकार है—

---

१ उपासकदशांगसूत्र अध्ययन ८

२ अशोक के धर्म लेख पृ० ५१

दवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के छब्बीस वर्ष बाद मैंने इन प्राणियों को अवध्य कर दिया है, जैसे सुक सारीका, अरुण चक्रवाक हंस नन्दीमुख गलाट जतुका (चमगीदड) अम्बाकपीलिका दुडि (कछुवी) अनस्थिक मत्स्य जीवजीवक गगापुपुटक सकुल मत्स्य कमठ साही पर्णसस वारहसींगा सांड ओकपिण्ड मृग सफेद कबूतर, गाव के कबूतर और अन्य सब प्रकार के चतुष्पद जो न तो किसी प्रकार उपभोग में आते हैं और न खाए जाते हैं। गर्भिणी या दूध पिलाती हुई बकरी भेड और सूकरी तथा उनके बच्चो को जो छ महीने तक के हो न मारना चाहिए। कुक्कुट को वधित नहीं करना चाहिए। जीव सहित तुषा को नहीं जलाना चाहिए। अनर्थ के लिए या प्राणियों की हिंसा के लिए वन में आग न लगानी चाहिए। एक जीव को मार दूसरे जीव को न खिलाना चाहिए। *तीनों चातुर्मासिक पूर्णिमाओं के दिन तथा प्रत्येक उपवास के* दिन मछली न मारनी चाहिए। इन दिनों में हाथियों के वन में तथा तालाबों में कोई भी दूसरे प्रकार के प्राणी न मारे जाने चाहिए। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी अमावस्या तथा पूर्णिमा पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चार चार महीने के त्यौहारों के दिन बैल को तथा अन्य पशुओं को न दागना चाहिए।[1]

राज्याधिकारियों का दौरा

सम्राट अशोक ने अपने राज्याधिकारियों को भी प्रचार काय में लगाया था। वह कहता है—मेरे राज्य में सब जगह युक्त (साधारण कर्मचारी), रज्जुक (आयुक्त) और प्रादेशिक (प्रान्तीय अधिकारी) पाच पाच वर्षों में धर्मानुशासन तथा अन्य कार्यों के लिए यह कहते हुए दौरा करें कि माता पिता की सेवा करना तथा मित्र परिचित सजातीय ब्राह्मण व श्रमण को दान देना अच्छा है। जीव हिंसा न करना अच्छा है। कम खर्च करना और कम संचय करना अच्छा है।[2]

सम्राट अशोक के धर्म प्रचार में राजनीति और धर्म का मिश्रण था। पंचम *स्तम्भ लेख में बताए गए जीव हिंसा सम्बन्धी अधिनियमों से सम्राट की धर्म* भावना का एक परिचय मिलता है पर दण्ड विधान के साथ करवाई गई जीव दया विशुद्ध अहिंसा की कोटि में तो नहीं आ सकती। आज की समाज व्यवस्था में भी मद्यपान परस्त्रीगमन चोरी झूठा तोल माप मिलावट चोरबाजारी आदि को रोकने के नाना कानून हैं हो पर उनका लागू होना राज व्यवस्था का अंग है न कि अध्यात्म का। पशुओं के प्रति क्रूरता न बरते जाने के आज भी

१ अशोक के धर्म लेख (पंचम स्तम्भ लेख) पृ० ३४१ ४६
२ अशोक के धर्म लेख (ततीय शिलालेख) पृ० १२२

अनेक कानून हैं। शहरों में सवारी आदि के संख्या-परिमाण निश्चित हैं। सम्राट अशोक ने भी ऐसा करके कोई अपूर्व काम किया हो, यह नहीं लगता। उसके शासन में राजनीति और धर्म कैसे मिले जुले चलते थे, उसका एक उदाहरण चतुर्थ स्तम्भ लेख में मिलता है। सम्राट अशोक कहता है—आज से मेरी यह आज्ञा है कि कारागार में पड़े हुए जिन मनुष्यों को मृत्यु दण्ड निश्चित हो चुका है, उन्हें तीन दिन की मुहलत दी जाए। इस अवधि में जिन लोगों को वध का दण्ड मिला है उनके जाति कुटुम्ब वाले उनके जीवन के लिए ध्यान करेंगे और अन्त तक ध्यान करते हुए परलोक के लिए दान देंगे तथा उपवास करेंगे। क्योंकि मेरी इच्छा है कि कारागार में रहने के समय भी दण्ड पाए हुए लोग परलोक का चिन्तन करें।[1] यहाँ एक ओर मृत्यु दण्ड की चर्चा है और दूसरी ओर धर्माचरण की। अशोक के मन में धर्म विस्तार की उत्कट भावना थी इसमें सन्देह नहीं। उसने अपने अभिमत को आगे फैलाने में कानून की अपेक्षा प्रचार का ही अधिक आश्रय लिया था। राजनीति और धर्म के उस मिले जुले रूप में से नीर क्षीर का विवेक ही अध्यात्म और राजनीति का पृथक्करण कर सकता है।

राजाओं का परम्परागत आचार

श्रेणिक राजा ने अवध घोषणा की यह शास्त्रों में उल्लिखित है पर उस घोषणा का स्पष्ट रूप क्या था यह नहीं। महाशतक की पत्नी रेवती ने जिस प्रच्छन्न विधि से मांस प्राप्त किया उसे देखते हुए राजपुरुष उस आज्ञा को बहुत ही कड़ाई से पलाते थे ऐसा लगता है। उपासकदशांगसूत्र में रेवती के प्रसंग विशेष से अमारी घोषणा का उल्लेख मात्र किया गया है। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि शास्त्रकारों का ध्येय उसकी श्लाघा का रहा है। आचार्य श्री भिक्षु का अभिमत है पुत्र-जन्मोत्सव व किसी विशेष प्रसंग पर ऐसी घोषणाओं की परम्परा राजा लोगों में रही होगी। यह राजाओं का परम्परागत आचार ही हो सकता है। यदि यह धर्म का अंग होता तो वासुदेव चक्रवर्ती आदि भी इस सहज सम्भव धर्म से वंचित क्यों रहते? यदि बल प्रयोग में धर्म होता तो वे यहीं धर्माचरण कर अधिक-से अधिक धर्मी बन जाते।[2]

---

१ अशोक के धर्मलेख (चतुर्थ स्तम्भ लेख) पृ० ३३६

२ श्रेणक राय पड़हो फरायीयो, ए तो जाणों हो मोटा राजा री रीत।
भगवंत न सरायो तेहनें, तो किम आय हो तिणरी परतीत॥
ए तो पुत्रादिक जायां परणीयां, प्रोढ्यादिक हो मोरी सीतला जाए।
एहवो कारण कोई उपजे, श्रेणक राजा हो फेरी नगरी में आण॥

गाधीजी और अहिंसा

सत्याग्रह विचार

आचार्य भिक्षु से लगभग सवा सौ वर्ष पश्चात् महात्मा गांधी आए। अहिंसा के इतिहास में उन्होंने भी कुछ नए अध्याय जोड़े। अहिंसा की उन्होंने एक व्यावहारिक नीति के रूप में भी स्थापना की। सत्ता-परिवर्तन जैसे दुस्तर कार्य जो कि प्रायः युद्ध से ही सम्भव माने जाते थे उन्होंने सत्याग्रह असहयोग आदि अहिंसा प्रधान प्रयत्नों में भी उनकी सम्भवता मानी। व्यवहार रूप में सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन भले ही अहिंसा जगत में नगण्य हो पर महात्मा गांधी का प्रयत्न उनको अधिकाधिक अहिंसात्मक बनाने का ही रहा है। उनका कहना था—"प्रजा लोगों के प्रति हमारे मन में जब तक किंचित भी कटुता और द्वेष है तब तक हमारे ये प्रयत्न अहिंसात्मक नहीं कहे जा सकते। उनके सामने प्रश्न आया—क्या सत्याग्रही कतार बांधकर खड़े हो सकते हैं? उन्होंने कहा—यह प्रश्न मुझे प्रायः पर पूछा जा रहा है, जहां कतार बांधकर खड़े होने में प्रतिपक्षी के गमनागमन में एक अवरोध करने का लक्ष्य स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिए यह तरीका कदापि अहिंसात्मक नहीं हो सकता।"[1] इस प्रकार अनेकों सामाजिक व्यवहारों में अहिंसा को एक अनिवार्य नीति का रूप दिया और अनेकों समस्याओं पर उनके सफल प्रयोग भी कर दिखाए।

चीनी, खादी और चाय

गांधीजी ने अहिंसा को राजनैतिक और सामाजिक सम्बन्धों से ही परखा है पर व्यक्तिगत जीवन-साधना के सम्बन्ध में भी उन्होंने बहुत सोचा और बहुत लिखा है। जीवन-व्यवहार के नगण्य कार्य और होनेवाली नगण्य हिंसा के विषय में भी उन्होंने अपने स्पष्ट मन्तव्य दिए हैं। अनेक स्थलों पर उनकी दृष्टि आचार्य भिक्षु की दृष्टि के साथ अद्भुत सामञ्जस्य रखती है। किसी एक व्यक्ति ने गांधीजी से तीन प्रश्न पूछे—

१ क्या यह बात सच है कि विदेशी चीनी में हड्डियां तथा खून आदि अपवित्र चीजें डाली जाती हैं? अहिंसा का पालन करनेवाला मनुष्य क्या विदेशी शक्कर खा सकता है?

२ खादी पहनना अहिंसा का प्रश्न है या राजनीति का?

फल फूल अनन्त काय ने हिंसाविक हो अपारे पाप नें जाण।
जोरी वाय पला नें मना कीया, पम हुवे तो हो फरे छ घटे म आण॥
—अनुकम्पा चोपई गीति ७ गाथा ३७,४०,४६

[1] गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग २ पृ० २२३ के आधार से

३ अहिंसा-व्रत का पालन करनेवाला क्या चाय पी सकता है ?

उक्त तीनो प्रश्नो का उत्तर गांधीजी ने इस प्रकार से दिया—

विदेशी चीनी के अन्दर हड्डियां आदि नहीं रहती पर हा ऐसा सुना है कि उनका उपयोग चीनी साफ करने में किया जाता है। यह मानने का कोई कारण नही कि ऐसा प्रयोग देशी चीनी के लिए नहीं होता है। अहिंसा की दृष्टि से सम्भवत दोनो प्रकार की शक्कर त्याज्य है। यदि करनी हो हो तो उसकी बनावट की जाच करना उचित है। विदेशी शक्कर का त्याग स्वदेशी के उत्तेजन के लिए ही सगत है। शक्कर मात्र के त्याग के लिए अहिंसा की एक सूक्ष्म दृष्टि है। प्रत्येक प्रक्रिया मे हिंसा है। अतएव प्रत्येक खाद्य पदार्थ पर जितनी कम प्रक्रिया हो उतना ही अच्छा है।

खादी पहनने मे अहिंसा, राजकाज और अर्थशास्त्र तीनो का समावेश हो जाता है। पूर्वोक्त नियम के अनुसार खादी पर प्रक्रियाए कम होती हैं, इसलिए उसमे हिंसा कम है।

अहिंसा-व्रत पालनेवाला चाय पी भी सकता है और नहीं भी पी सकता है। चाय मे भी प्राण हैं। वह निरुपयोगी वस्तु है। इस कारण उसके बनने से होनेवाली हिंसा अनिवार्य नही है। अतएव उसका त्याग इष्ट है। व्यवहार मे हम इतनी बारीक बातो का ख्याल नहीं करते। इस कारण जिस तरह दूसरी चीजो को अहिंसा की दृष्टि से निर्दोष समझते हैं उसी तरह चाय को भी मान सकते हैं।

माता का शिशु-प्रेम

तीनों प्रश्नों के उपसहार मे वे लिखते हैं—अहिंसा एक मानसिक स्थिति है। जिसने इस स्थिति को नही समझा है वह चाहे कितनी ही चीजों का त्याग कर दे तो भी उसे उसका फल शायद ही मिले। रोगी रोग के लिए बहुत-सी चीजो से परहेज करता है इससे उसके इस त्याग का फल रोग दूर करने के अतिरिक्त नहीं मिलता। दुष्काल पीडित को यदि भोजन न मिले तो इससे उसे उपवास का फल नहीं मिलता। जिसका मन सयमी नहीं है उसकी कृति मे चाहे सयम भले ही दिखाई दे, पर वह सयम नही है। जिस काय मे जिस अश तक दया है उस काय मे उसी अश तक अहिंसा हो सकती है। इसलिए दया और प्यार को आवश्यकता है। अध प्रेम को अहिंसा नहीं कहते। अधप्रेम के अधीन होकर जो माता अपने बालक को अनेक तरह दुलराती है वह अहिंसा नही अज्ञानजात हिंसा है। मैं चाहता हू खाने-पीने की मर्यादाओं का पालन करते हुए भी लोग अहिंसा के विराट रूप को, उसकी सूक्ष्मता को उसके मर्म को समझें।[1]

---

[1] गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १६

रामायण और महाभारत

आचार्य भिक्षु ने रामायण महाभारत आदि प्राचीन पुराण ग्रंथों को स्वत प्रमाण नहीं माना। उन्होंने जैन रामायण पर तो असंगत उक्तियों के लिए परिष्कारक प्रयत्न भी किया था।

महात्मा गांधी से एक बार पूछा गया—हिन्दू लोग राम को अवतार को धर्म का अवतार कहते हैं। राम ने रावण को मारा था क्या यह बुरा किया? राम ने वालि का वध किया यह कहकर कि—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुन सठ ये कन्या सम चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकहिं जोई। ताहि बध कछु पाप न होई॥

भगवद् गीता में अर्जुन अपने सगे सम्बन्धियों का वध करने के लिए तैयार नहीं होता है। भगवान कृष्ण उसे युद्ध करके नाश करने का आग्रह करते हैं। आपका अहिंसा मन्तव्य इस विषय में क्या कहता है?

उत्तर में महात्मा गांधी लिखते हैं—तुलसीदास ने राम के मुंह में कितनी बातें डाली हैं जिनका मतलब मैं नहीं समझता। वालि सम्बन्धी सारा प्रसंग ही ऐसा है। तुलसीदास ने राम के मुंह से कहलाई इन पंक्तियों के शब्दार्थ के अनुसार चलने से यदि कोई कामी पुरुष चलेगा तो बड़ी मुसीबत में जरूर फंस जाएगा। रामायण और महाभारत में हर महान् व्यक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है सबको मैं शब्दशः नहीं ग्रहण करता हूं और न मैं इन ग्रन्थों को ऐतिहासिक संग्रह मानता हूं। उनमें भिन्न भिन्न रूपों में आवश्यक सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। और न मैं राम तथा कृष्ण को अस्खलनशील—कभी गलती न करने वाले मानता हूं जैसा कि इन दो महाकाव्यों में उनका चरित्र चित्रण मिलता है। वे अपने युग के विचारों और आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। केवल अस्खलनशील व्यक्ति ही अस्खलनशील पुरुषों के चरित्र का यथार्थ चित्रण कर सकता है। ऐसी अवस्था में उनका आशय मात्र हमारे लिए पथ प्रदर्शन का काम दे सकता है। उनके अक्षर अक्षर का अनुसरण करने से हमारा दम घटने लगेगा और सब तरह की उन्नति रुक जाएगी। जहां तक गीता से सम्बन्ध है मैं उसे कोई ऐतिहासिक संवाद नहीं मानता। आध्यात्मिक सिद्धान्त समझाने के लिए उसमें भौतिक उदाहरण दिए गए हैं। चचेरे भाइयों के दरम्यान हुए युद्ध का उसमें वर्णन है। अहिंसा परमो धर्म जीवन का एक उच्चतम सिद्धान्त है। उसके पालन से यदि जरा भी हम च्युत हों तो उसे हमारा पतन समझना चाहिए। भूमिति की सरल रेखा काले तख्ते पर चाहे न खींची जा सकती हो, परन्तु उस बात की

हैं और इसीलिए तो भोग के लिए आहार सर्वथा त्याज्य है।[1]

महात्मा गांधी से एक भाई ने पूछा—छोटे जीव जन्तुओं को एक-दूसरे का आहार करते अनेक बार देखता हूं। मेरे यहां एक छिपकली है। उसे यही काम करते मैं रोज देखता हूं। बिल्ली को पक्षियों पर झपटते भी देखता हूं। क्या मुझे यह देखते रहना चाहिए? उन हिंसक जीवों को रोकता हूं तो उनकी हिंसा हो जाती है। ऐसी स्थिति में आप बताएं क्या करना चाहिए?

गांधीजी ने उत्तर में लिखा—क्या मैं ऐसी हिंसा नहीं देखूंगा? बहुत बार मैंने छिपकली को तिलचट्टों का शिकार करते तथा तिलचट्टों को दूसरे जीव-जन्तुओं का शिकार करते देखा है। किन्तु जीवो जीवस्य जीवनम् एक जीव दूसरे जीव का आधार है यह तो प्राणी जगत का नियम है उसमें हस्तक्षेप करना मुझे कभी कर्तव्य नहीं सूझा। ईश्वर की इस अगम्य उलझन को सुलझाने का मैं दावा नहीं करता।

प्रश्न—हिंसा की आवश्यकता प्रमाणित हो जाने पर भी क्या सैद्धांतिक दृष्टि उसमें बाधक होती है?

उत्तर—ऐसे अवसर पर भी जहां हिंसा की आवश्यकता सिद्ध होती हो सैद्धांतिक दृष्टि से हिंसा का समर्थन नहीं कर सकते। कार्य साधकता की दृष्टि से उसका बचाव किया जा सकता है।[2]

व्यवसाय और खेती

प्रश्न—अन्य व्यवसायों की अपेक्षा क्या खेती अधिक हिंसा जन्य नहीं है?

उत्तर—कायमात्र प्रवृत्तिमात्र उद्योगमात्र सदोष हैं। आवश्यक उद्यम मात्र में एक सा दोष है। मोती के रोजगार में रेशम के धन्धे में, सुनार के पेशे में खेती से बहुत अधिक दोष है। क्योंकि ये धन्धे आवश्यक नहीं हैं। उनमें हिंसा तो बहुतेरी हुई है। मोती हिंसा बिना मिल नहीं सकते। रेशम का कीड़ा उबाला जाता है। सुनार जो आसमानी आग पैदा करता है, उसमें जलने वाले जन्तुओं से यदि पूछें और यदि वे जवाब दे सकें तो हम उनके धन्धे की हिंसा का कुछ ख्याल हो सकता है।[3]

प्रश्न—किसी व्यक्ति या पशु को मारने वाला क्या उस वध्य को दुर्गति देने का पाप नहीं करता?

---

१ गांधीजी खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ४७
२ गांधीजी खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० २६
३ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ३६

उत्तर—एक मनुष्य दूसरे को मारकर उसे दुर्गति कैसे दे सकता है? यह बात मेरी समझ के बाहर है। मनुष्य अपने ही बंधन और मोक्ष का कारण होता है दूसरा नहीं। अहिंसा धर्म का पालन अपने ही मोक्ष के लिए होता है।[1]

अहिंसा और उपयोगितावाद

प्रश्न—क्या आपका सिद्धान्त उपयोगितावाद पर आधारित नहीं है। उपयोगितावाद का अर्थ है—अधिकांश लोगों का अधिक लाभ। सामान्यतः वह अर्थ सिद्धि के लिए हिंसा अहिंसा में भेद नहीं मानता। आप अपनी स्थिति स्पष्ट करें।

उत्तर—अहिंसावादी उपयोगितावाद का समर्थन नहीं कर सकता। वह तो 'सर्वभूतहिताय' यानी सबके लिए अधिकतम लाभ के लिए ही प्रयत्न करेगा और इस आदर्श की प्राप्ति में मर जाएगा। दूसरों के साथ-साथ वह अपनी सेवा भी मर कर करेगा। सबके अधिकतम सुख में अधिकांश का अधिकतम सुख भी मिला हुआ है इसलिए अहिंसावादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे पर अन्त में ऐसा अवसर भी आएगा जब उन्हें अलग अलग रास्ते पकड़ने होंगे और किसी किसी दशा में एक दूसरे का विरोध भी करना पड़ेगा।

अहिंसा सिद्धान्त के अनुसार यूरोपीय महासमर सरासर अनुचित मालूम होता है। उपयोगितावाद के अनुसार प्रत्येक पक्ष ने उपयोगिता के अपने विचार के अनुसार अपना पक्ष न्यायसिद्ध कर लिया है। उपयोगितावाद के सहारे जलियावाला बाग-काण्ड को भी उसके करनेवालों ने न्याय सिद्ध कर दिखाया। ठीक इसी तर्क से अराजक भी अपनी हत्याओं का समर्थन करते हैं किन्तु सर्वभूतहितवाद के सिद्धान्त की कसौटी पर इनमें से किसी भी काम को समुचित सिद्ध नहीं किया जा सकता।[2]

भावना और कार्य

प्रश्न—मानव समाज का नाश करनेवाले आदमी के नाश को क्या आप अहिंसा न मानेंगे जबकि वह केवल समाज हित की भावना से ही किया जाता है।

उत्तर—यह यथार्थ है कि मैंने भावना को प्राधान्य दिया किन्तु अकेली भावना से अहिंसा नहीं सिद्ध हो सकती। यह सच है कि अहिंसा की परीक्षा अन्त में

१ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ७५
२ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ८३ ८४

भावना से होती है। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि कोरी भावना से ही अहिंसा न मानी जाएगी। भावना माप भी काय पर से ही निकालना पडता है और जहा स्वाथ के वश होकर हिंसा की गई है, वहा भावना चाहे जितनी ही ऊची क्यों न हो तो भी स्वायमय हिंसा तो हिंसा ही रहगी। इसने उलटे जो आदमी मन म वर भाव रखता है किन्तु लाचारी से उसे काम म नहीं ला सकता, उस वरी के प्रति अहिंसत्व नही कहा जा सकता। क्योंकि उसकी भावना मे वर छिपा हुआ है। इसलिए अहिंसा का माप निकालने म भावना और काय दोनो की परीक्षा करनी होती है।[1]

ज्ञानपूवक दया

प्रश्न—मनुष्य भक्षी जाति स मनुष्य भक्षण छुडाना और पशु के मास से अपना निवाह करने की बात कहना मास खानेवाले लोगो को फल, फूल वनस्पति से जीवन निर्वाह करने की बात कहना क्या अहिंसा है ? अहिंसा की दृष्टि म जीवमात्र समान हैं।

उत्तर—सवभक्षी जब दया से प्रेरित होकर भक्ष्य पदार्थों की मर्यादा निश्चित करता है तब उस हद तक वह अहिंसा धम का पालन करता है। इसके विपरीत जो रूढि के कारण मास आदि नही खाता वह अच्छा तो करता है लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उसम अहिंसा का भाव है ही। जहा अहिंसा है वहा ज्ञान पूवक दया होनी ही चाहिए।[2]

प्रश्न—आप दया और अनुकम्पा के स्थान पर जब तब अहिंसा शब्द का प्रयोग करते हैं, इसस भ्रान्ति पदा होती है ?

उत्तर—अहिंसा और दया म उतना ही भेद है जितना सोने और सोने के गहनो म, बीज म और वक्ष म। जहा दया नहा वहा अहिंसा नहीं। अत यों कह सकते हैं कि उसम जितनी दया है उतनी ही अहिंसा है। अपने पर आक्रमण करनेवालो को मैं न मारू, उसम अहिंसा हो भी सकती है और नही भी। परन्तु अगर उसे न मारू तो वह अहिंसा नहीं हो सकती। दया भाव से ज्ञानपूवक न मारने मही अहिंसा है।[3]

महात्मा गाधी के अहिंसा चिन्तन म जन अहिंसा दृष्टि का भी प्रभाव रहा है। गाधाजी न जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरी, हेमचन्द्राचाय, समत

१ गांधीजी खण्ड १० अहिंसा—भाग १ प० ११५
२ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ११७
३ गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ प० ११६ १७

चन्द्रसूरी प्रभृति आचार्यों के अहिंसा सम्बन्धी विशेषावश्यकभाष्य,[1] पुरुषार्थ सिद्धयुपाय[2] आदि ग्रन्थ पर हैं ऐसा अनेक सन्दर्भों से स्पष्ट होता है।

तत्त्व निरूपण और लोक धारणा

अहिंसा के सूक्ष्म निरूपण बहुधा लोक धारणा और लोक-व्यवहार के साथ मेल नहीं खाते। इसीलिए तो आचार्य भिक्षु को माले का सर काट दूंगा[3] भिक्षु करोड़ कसाइयों से भी अधिक बुरा है[4] जी करता है भिक्षुजी को कटारी से मार दूं[5] आदि बीभत्स वाक्य अपने कानों से सुनने पड़ते थे। एक चर्चावादी तो उनकी छाती में मुक्का मारकर ही चलता बना।[6] अपने निर्भीक निरूपण को लेकर उन्हें नाना त्रास-यातनाओं का सामना करना पड़ा।

इस विषय में गांधीजी की स्थिति भी लगभग यही थी। उनके अहिंसा सम्बन्धी निरूपणों से बहुत बार लोग चौंकना उठते और अपने कटु उद्गार उन तक पहुंचाते। गांधीजी ने स्वयं ऐसे प्रसंगों का उल्लेख किया है। उनके शब्द हैं—कितनेक लोगों का कहना है मेरा साठवां वर्ष बैठा है इसलिए ही मेरी बुद्धि का नाश हुआ है। तो कितनेक लोग कहते हैं—ऐसा धर्म आपको अभी बुढ़ापे में सूझा है क्या? यदि पहले ही सूझा था तो इतने दिन मुंह में दही जमाए क्यों बैठे थे?[7] अब आपको अहिंसा के क्षेत्र से त्याग-पत्र दे देना चाहिए।[8] आप महात्मा माने जाते हैं इसलिए समाज के बहुत से लोग आपके रास्ते पर चलकर दुःखी और पामाल हो रहे हैं।[9]

सत्य निरूपण में दोनों ही विचारक टलते नहीं थे। एक बार गांधीजी ने किसी प्रसंग में कहा था—मच्छरों मक्खियों और चूहों को भी जीने का उतना ही अधिकार है जितना कि मेरा। अमरिका के पत्रों में इस बात का बहुत ही उपहास हुआ।

---

१ नवजीवन ता० १३ १ २८
२ गांधीजी खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ७७
३ भिक्खु दृष्टान्त ६१
४ भिक्खु दृष्टान्त ८४
५ भिक्खु दृष्टान्त ७४
६ भिक्खु दृष्टान्त ४७
७ गांधीजी खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ६६
८ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १११
९ गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग ४ पृ० ४३४

वहा के एक हिनपी ने गाधीजी को लिखा—मैं नहीं मानता आपने ऐसी बेवकूफी भरी बातें कही होगी, अत आवश्यक है, आप एक प्रतिवाद लिखकर भेजें, जिस मैं यहा समाचार-पत्रों म प्रकाशित कर सकू। गाधीजी न उस पर लिखा—खेद है, मेरी बेवकूफी को मिटाने का श्रेय आपको मिलना सम्भव नही है।[१]

महात्मा गाधी इन आलोचनाओं म वेदनाशील भी होते देखे जाते हैं। प्रसगवश व लिखते है—मेरे नाम इस विषय म ढेरो पत्र आए हैं। इनम स कोई मीठा कोई ताखा और कोई कडवा है। मेरे मित्र भी मेरा अभिप्राय नही समझ सके हैं। मेरे नसीब से मेरे जीवन म हमेशा ऐसा ही होना चला आया है।[२]

मैंने टीकाकारो का रोष बहुत बटोर लिया है। कोई गालिया देकर अपनी अहिंसा की परीक्षा दे रहा है कोई सख्त टीका करके मेरी अहिंसा की परीक्षा ले रहा है।[३]

आचार्य भिक्षु का उग्र सत्य

आचार्य श्री भिक्षु से उनके उत्तराधिकारी शिष्य भारमलजी स्वामी ने पूछा—आप छद्मस्थ भगवान् महावीर को चुका कहते हैं यह लोगो को बहुत ही अप्रिय लगता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—जो मैं कहता हू वह सत्य है या नहीं?

भारमलजी—सत्य तो है ही।

आचार्य भिक्षु—फिर प्रिय और अप्रिय होने की चिन्ता मत करो।[४]

आचार्य भिक्षु से किसी ने कहा—आपका उग्र निरूपण क्या वास्तव म निन्दा या हिंसा नही है?

आचार्य भिक्षु—एक धनवान् अपने लडके को सीख देता है जिसका धन उधार लिया जाए उसे यथासमय वापिस करना चाहिए नही तो लोग दिवालिया कहते हैं।

पडोसी सचमुच ही दिवालिया था। उसे यह सीख चुभती और वह झल्लाकर कहता है बेटे को ऐसी सीख न दिया करो, मेरी छाती जलती है।

आचार्य भिक्षु ने प्रश्नकर्ता स कहा—ठीक इसी प्रकार मैं तो अपने शिष्यो को साध्वाचार सिखलाता हू। शिथिलाचारी कुढते हैं यह तो उनका अपना ही

---

१ गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग २ पृ० १८० १८१

२ गाधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ५६

३ गाधीजी खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १११

४ भिक्खु दृष्टान्त १७८

ोप है।[1]

आचार्य भिक्षु की दृष्टि में पाप की आलोचना असगत नहीं पापी की आलोचना असगत हो सकती है।

गांधीजी की स्पष्टवादिता

गाधीजी न चीन म रह पादरियों के धर्म-परिवर्तन काय की तीव्र आलोचना की। ईसाई जगत म एक उफान आ गया। वरीष्ठ लोगों ने गांधीजी को लिखा—आपका हमेशा का स्वभाव तो विशिष्ट शान्ति धर्य व ममय म बात करना है। आप इस कठोरता को सहज ही टाल सकते थे। इस कठोरता म आपने पादरी वर्ग के प्रति हिंसा की है।

गाधीजी का विस्तृत उत्तर का अभिप्राय है—ईसामसीह ने अपने जमाने के कुछ लोगों को साँपों की औलाद कहा था। उनके शब्दों व कार्यों से लोगों को इतनी चोट पहुची कि वे उनकी जान के गाहक बन गए। क्या ईसामसीह ने वचन द्वारा हिंसा की थी?

सत्य यदि कठोर हो सकता है तो उसे व्यक्त करने का नम्रतापूर्ण मार्ग ऐसा कौन-सा है जिससे कि विरोधी को क्रोध आए ही नहीं। किसी चोर के काय को मैं चोरी कहकर ही व्यक्त करूँगा। डाकवी प्राणायाम जैसी भाषा म मैं उसके विषय म यह कहूँ कि वह साहूकारी के चोरी और की भूमि में भ्रमण करता है हत्यारे के लिए कहूँ कि वह निर्दोष खून करता है। इन प्रयोगों म भी क्या निश्चितता है कि दोषी का दिल दुखेगा ही नहीं। मेरे मतानुसार कठोर सत्य विवेक और नम्रतापूर्वक कहा जा सकता है। पादरियों की प्रवृत्ति के विषय म मैंने जो वचन कहे हैं वे किसी प्रकार हिंसक नहीं ठहरते।[2]

मत विभिन्नता भी

आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के अहिंसा-मन्तव्यों म कतिपय अत्यन्त भिन्नताएं भी थीं। मरणशील का मृत्युदान[3] का विचार गांधीजी का अपना निराला था। आचार्य भिक्षु साधु-संस्था म थे। अत जीवन व्यवहार में हिंसा का अनुमोदन मात्र भी उनके लिए वर्जित था। गांधीजी एक लोकपुरुष थ। वे अपने सामाजिक दायित्व को समझते हुए समाज धर्म के रूप मे हिंसा का आदेश व अनुमोदन भी

---

१ भिक्खु दृष्टान्त ६०

२ गांधीजी खण्ड १० अहिंसा—भाग २ पृ० १८३ १८४

३ विशेष विवरण के लिए देखें आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी

करते थे। सामाजिक लोग यहा तक हिंसा कर सकते हैं और यहां तक नहीं, इस तथ्य को तोलने की उनके पास अपनी तुला थी। एक बार उन्होंने अहमदाबाद के प्रमुख उद्योगपति सेठ अम्बालाल द्वारा साठ पागल कुत्तो के मरवा डालने को यह कहकर कि इसके सिवाय और दूसरा हो क्या सकता था, अनुमोदित किया और सारे देश का रोष अपने ऊपर लिया दूसरी ओर अग्रजों की हत्या के लिए उग्र युवको के विषय म पुन पुन ये कहते रहे—नौजवान मुझसे कहते हैं कि यदि मैं उनकी मदद नहीं कर सकता तो मैं चुप हो रहू और उनके माग म रोड न अटकाऊ। उन्हें मेरा यही उत्तर है कि यदि आप अग्रज अधिकारियो को मारना ही चाहते हैं तो उनके बजाय मुझे ही क्यो नही मार डालते ? अपने ढग से आपके माग म रोड अटकाने के आपके आरोप का मैं अपने को अपराधी स्वीकार करता हू। यह मेरा धर्म है। मुझपर दया न करो मुझे सीधी राह दिखाना लगा दो। लेकिन जब तक मेरे अन्दर प्राण हैं मैं अपने ढग से आपका विरोध करूगा ही। यदि आप मुझे छोड़ते हैं तो आप सरकारी नौकरों पर चाहे वे बड़े हों या छोटे हाथ न डालिए।

मुसलमानो द्वारा किए गए अभद्र व्यवहारो के बावजूद भी वे हिंदुओ को अहिंसा से काम लेने की अपील ही करते रहे और उसी म अपने प्राण दे दिए। अपने ऊपर बम फेंकनेवालों को भी उन्होंने क्षमा किया था। इस प्रकार आचार और विचार से समुद्भूत गाधी अहिंसा इस युग का एक स्वतन्त्र जीवन दशन बन गई है। सुप्रसिद्ध विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखते हैं—महात्मा गाधी ने प्रत्येक विचारधारा को परखा और उसे समन्वय दृष्टि दी। उनकी दृष्टि उसी सूक्ष्मता को पहुची जहा उसने एक नवीनवाद का सूत्रपात किया और उसे कह सकते हैं—गाधी धम। श्रेष्ठता और सूक्ष्मता की दृष्टि से जन धम और गाधी धम सम हैं। महात्मा गाधी एक नये समन्वयात्मक धम के अधिष्ठाता कहे जा सकते हैं जबकि आचाय भिक्षु परम्परा से आते हुए एक पुरातन धम को नये सिरे से मान्यता देनेवाले थ। महात्मा गाधी ने गाधी धम की सृष्टि की। आचाय भिक्षु ने जन धम की पुनर्जागरणा की। दोना का तत्त्व चिन्तन विभिन्न परिस्थितियो म होते हुए भी बहुत कुछ समान दृष्टि रखता है।[1]

○

---

१ भूमिका—आचाय भिक्षु और महात्मा गांधी

परिशिष्ट—१

प्रस्तुत पुस्तक के ऐतिहासिक दृष्टि प्रकरण में अहिंसा विचार के सम्बन्ध से प्राग आर्य संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। सचमुच ही इतिहास की वह एक नई करवट है जो इतिहासकारों को अपनी बद्धमूल धारणाओं के परिवर्तन के लिए प्रेरित करती है। विद्वद्वर श्री जी० सी० पाण्डे एम० ए०, डी० फिल० ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ Studies in the Origins of Buddhism में भी इस विषय पर अपना शोधपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। सवयक पाठक के लिए उप योगी समझकर वह यहां यथावत उद्धृत किया जाता है।

नृतत्त्व विज्ञान (Anthropology) भाषा विज्ञान (Philology) और पुरातत्त्व विज्ञान (Archaeology) ने यह स्पष्ट रूप से बता दिया है कि प्राग ऐतिहासिक काल से ही भारत अनेकों जातियों और संस्कृतियों का देश रहा है जहां पर इनके पारस्परिक संघर्षों ने ही इस देश के सामाजिक इतिहास को एक मुख्य चुनौती दी है। इस चुनौती का जिस शक्ति से भारतीय समाज ने सामना किया है उस पर ही उसकी सफलता आधारित रही है। भारत के सांस्कृतिक जीवन में इस प्रकार बहुत प्राचीन काल से ही प्रगतिशील सामंजस्य का वह नमूना पाया जाता है जिससे सत्य अनन्त और व्याकुल करनेवाली अनेकताओं में भी एकता को तथा संघर्ष और विरोधों के बाद भी शान्ति और समानता की खोज की है।

सिन्धु सभ्यता के आविष्कार ने भारतीय संस्कृति के उद्गम के विषय को लेकर हमारे दृष्टिकोण में उसी प्रकार की क्रान्ति ला दी है, जिस प्रकार की क्रान्ति ईजीन सभ्यता (Aegean Civilisation) के द्वारा ग्रीक इतिहास के विषय में हुई थी। 'यहां के मूल निवासी नाग जंगली और असभ्य थे तथा विजेता आर्य लोग सुसंस्कृत थे जिनकी सभ्यता को यहां के नागों ने उत्तरोत्तर दूषित किया है', भारतीय इतिहास सम्बन्धी इस धारणा को अब हम स्वीकार नहीं करते हैं। प्रत्युत भारत में आर्यों के आक्रमण के विषय में यह कहा जा सकता है कि आर्यों का आगमन जंगली और असभ्य नागों का एक ऐसे प्रदेश में प्रवेश था जहां के लोग पहले से ही एक व्यवस्थित राज्य के रूप में संगठित थे और उनकी

---

१ Piggott, Prehistoric India, pp 257 58

संस्कृति सुसभ्य और शिक्षित लोगों की संस्कृति थी, जिसकी परम्परा दीर्घकाल से स्थापित थी।" ऐतिहासिक धारणा में यह परिवर्तन वस्तुतः ही कोपरनिकस (Copernicus) की क्रान्ति से कम महत्त्व नहीं रखता।

सिन्धु सभ्यता के अवशेष अतिवृहत् क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं जिसमें शिमला की तराइयों में स्थित रूपड़ से लेकर अरब समुद्र के तट पर कराची से पश्चिम में तीन सौ मील दूर पर आये हुए सुत्कागन डोर (Sutkagen dor) तक का प्रदेश समाहित होता है।[1] सौराष्ट्र के झालावाड़ जिलान्तर्गत रंगपुर की खुदाइयों ने निस्सन्देह रूप से यह बता दिया है कि उनका हड़प्पा की परम्परा के साथ सम्बन्ध था।[2] इस प्रकार सिन्धु सभ्यता का क्षेत्र विस्तार अन्य किसी भी पूर्व प्रतिष्ठित प्राच्य सभ्यताओं से अधिक विशाल था[3] ऐसा कहा जा सकता है। यद्यपि इस सभ्यता का काल निर्णय अभी तक अनिश्चित रूप से हुआ है फिर भी ऐसा लगता है कि ई० पू० २३०० से भी कुछ समय पहले हुए अगड के सारगोन (Sargon of Agade) के समय में यह सभ्यता पूर्णतः विकसित हो चुकी थी। इस प्रकार व्हीलर (Wheeler) के अनुसार सिन्धु सभ्यता का काल ई० पू० २५०० और ई० पू० १८०० के बीच का था।[4] किन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस प्रकार मानने पर वैदिक संस्कृति के विकास का काल बहुत अल्प रह जाता है। इसके अतिरिक्त उक्त मान्यता बोगाज कोई (Boghaz Koi) के शिलालेखों (ई० पू० १४००) द्वारा दिए गए प्रमाणों के साथ भी संगत नहीं होती है। उक्त शिलालेख वेदकालीन भारतीय देवताओं के विषय में उल्लेख करता है न कि भारत ईरानी देवों के विषय में ऐसा लगता है।[5] दूसरी ओर भारत पर आर्यों के आक्रमण को ई० पू० २००० से पश्चात् का नहीं माना जा सकता।[6] इस प्रकार यदि हम ई० पू० २३०० को सिन्धु संस्कृति के काल का

---

१ Wheeler, The Indus Civili ation p 2

२ Indian Archaeology A Review 1953 54 pp 6 7

३ Wheeler, loc cit

४ Wheeler, op cit p 4 Ibid, pp 84 93 Cf Piggott op cit, p 211, 214 ff, 240 41

५ Winternitz History of Indian Literature, vol I p 305 Cf The Vedic Age (ed R C Majumdar) p 204 Cambridge History of India vol 1 pp 72 73

६ ऋग्वेद संहिता के प्राक्तम मन्त्रों के काल निर्णय के लिए देखें, Winternitz op cit p 310

मध्य मान में जिस समय कि वह संस्कृति अपने विकास के चरम शिखर पर थी तो ई० पू० २८०० ई० पू० १८०० तक का काल सिन्धु सभ्यता का समय माना जा सकता है। यह मान्यता पुरातत्त्व वदिक भाषा शास्त्र प्राचीन भारतीय इतिहास और प्राचीन समीप-पूर्वीय इतिहास के द्वारा लिए गए प्रमाणों के साथ सुसंगत होती है।

जहाँ वदिक सभ्यता और सिन्धु सभ्यता के परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न है वहाँ पर यह मानना कि वदिक सभ्यता सिन्धु सभ्यता से प्राचीन है अथवा सिन्धु सभ्यता के प्रवतक आय थे[१] अत्यन्त ही कठिन होगा। सर जान मार्शल ने सुनिश्चित रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि सिन्धु सभ्यता आर्यों की वदिक सभ्यता से बिल्कुल ही भिन्न तथा उससे प्राचीन सभ्यता थी।[२] पहले की धारणाओं के अनुसार प्रागवदिक और अनाय सिन्धु सभ्यता तथा आय वदिक सभ्यता के बीच समय का अन्तर अति दीर्घ था। किन्तु आधुनिक पुरातत्त्वीय विकास में इन दोनों सभ्यताओं के बीच का काल अन्तर कुछ कम हुआ है।[३] सिन्धु सभ्यता का विनाश आगन्ता आर्यों की हिंसक प्रतिक्रिया के कारण हुआ था ऐसा अनुमान है। ऋग्वेद में पुर के विनाश का उल्लेख प्राग आर्यों के प्राकार सहित नगरों और किलों का ही उल्लेख है ऐसा माना गया है।[४] इन्द्र की दास और दस्युओं के साथ की लड़ाई आर्यों और अनार्यों के बीच संघर्ष के रूप में मानी गई है।[५] इन्द्र ने पानी की मुक्ति का जो पराक्रम किया वह पिग्गाट के अनुसार तो हड़प्पा के नगरों में बाढ़ से बचने के लिए बाँध गये बाधों के विनाश का ही उल्लेख है।[६] फिर भी प० के० चट्टोपाध्याय ने यह निश्चय पूर्वक बताया है कि दास और दस्यु से वस्तुतः कोई अनार्य मनुष्य का तात्पर्य नहीं है किन्तु जसा परम्परा से माना

---

१ Cf The Vedic Age pp 194 95 L Sarup in Indian Culture, IV

२ Marshall Mohanjo daro and Indus Culisation

३ उदाहरणाथ देखें Indian Archaeology A Review, 1953 54

४ Wheeler op cit p 90 Piggott op cit pp 261 63

५ Cambridge History of India, vol 1 pp 84, 86 Keith Religion and Philosophy of the Veda vol I p 234, Macdonell Vedic Mythology, p 157 Piggott loc cit

६ Piggott loc cit

जाता है तदनुरूप राक्षसों का ही उल्लेख है।[1] इन्द्र देव होने के कारण वणिक् त्रियाकाण्ड के शत्रु काले और बन्ने आकार वाले, विचित्र भाषा वाले और दुष्ट राक्षसों के साथ युद्ध करे, यह स्वाभाविक ही है। उनके किले और नगर केवल बादलों के ही काल्पनिक और साहित्यिक रूप हैं। हां यह तो माना जा सकता है कि आर्यों के आक्रमण ने कुछ समय के लिए उस प्रकार के विचित्र युद्ध के दृश्य उपस्थित कर दिये हों जिनमें सम्भवत देव और राक्षसों के बीच के युद्ध की कल्पना और पौराणिक धारणा बनी हो। इस प्रकार यह धारणा सम्भवत वास्तविक और ऐतिहासिक युद्ध का ही परोक्ष और काल्पनिक प्रतिध्वनि हो। यह तो स्पष्ट ही है कि ऋग्वेद संहिता में इस प्रकार का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है जिसमें यह बताया गया हो कि काले रंग वाले चिपटी नाक वाले आदिवासी दास और दस्यु नामक लोगों के साथ आर्यों का युद्ध हुआ था। यद्यपि इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि आर्यों के भारत पर आक्रमण के समय जो अनार्य लोग यहां पर थे, वे अत्यधिक सभ्य थे और इनके और आर्यों के बीच संघर्ष हुआ था, फिर भी इसके आधार पर हम पौराणिक मान्यता को इतिहास में नहीं बदल सकते। इस सम्बन्ध में सीधी साधी बात तो यह है कि सिन्धु सभ्यता के आविष्कार से पहले भारत के आधुनिक इतिहासकारों में यह एक धारणा-सी बनी हुई थी कि भारत के प्राग् आर्य निवासी जन काले और जंगली थे, राक्षसों जैसे थे। इसके फलस्वरूप ही जहां भी उन्हें राक्षसों का वर्णन उपलब्ध हुआ वहां पर उनकी कल्पना में भारत के प्राग् आर्य निवासियों का चित्र ही उपस्थित हुआ।

सिन्धु-सभ्यता के लोग कौनसी जाति के थे यह कहना वर्तमान में कठिन लगता है। फिर भी अनुमानत उनमें कई प्रकार के लोग थे जिनमें मूल आस्ट्रेलोइड (Proto-Australoids) भूमध्यीय (Mediterraneans) और मंगोल जाति (Mongoloids) के लोग भी सम्मिलित थे।[2] जैसे कि कई बार माना जाता है सिन्धु[3] सभ्यता को द्रविड़ों की सभ्यता मानना कोई निश्चित प्रमाण

१ देखें K Chattopadhyaya Dasa and Dasyu in the Rgveda (Proceedings of the Nineteenth International Congress of Orientalists held at Rome)

२ Wheeler, op cit pp 51 52 Cf S K Chatterji in Vedic Age, pp 145 ff

३ S K Chatterji, op cit pp 156 8 C Kunhun Raja in History of Philosophy, Eastern and Western (Ed S Radhakrishnan)—p 38

पर आधारित नहीं है।

इन प्राग् आर्यों की संस्कृति में निःसन्देह रूप से भौतिकता का विकास भी उच्च स्तर का हुआ था। आध्यात्मिकता के क्षेत्र में इनके द्वारा किए गए विकास को हम अब तक जान नहीं पाये हैं। जिसके मुख्यतया दो कारण हैं—एक तो लिखित सामग्री की अल्पता और दूसरा उनकी लिपि के ज्ञान का अभाव। किन्तु 'यह विरोधाभास-सा लगता है कि सिन्धु सभ्यता ने उसके उत्तरवर्तियों को आध्यात्मिकता की जो विरासत दी वह अब तक भी सुरक्षित है जबकि आज केवल उस सभ्यता के स्मारक चिह्न के रूप में जो भौतिक सभ्यता हमें उपलब्ध होती है उसकी धारा को प्रवाहित करने में वह असफल रही है।'[1] इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि पश्चातकालीन भारत में प्रचलित धार्मिक जीवन तत्त्वों में से कुछेक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व सिन्धु सभ्यता की ही देन है। इनमें कुछ एक उल्लेखनीय हैं : शिव सदृश देव की पूजा, जो देव पशुपति, योगी और सम्भवतः नटराज के रूप में बताया गया है, देवी माता की पूजा, पीपल वृक्ष की पूजा वृषभ की पूजा और कुछ एक देवों से सम्बन्धित अन्य पशुओं की पूजा। लिंग-पूजा (शिश्न-पूजा) और पानी की पवित्र होने की मान्यता भी सम्भवतः सिन्धु सभ्यता से ही प्रचलित हुई है[2]। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है वह निश्चित और स्पष्ट आकृति जिसमें व्यक्ति पद्मासन मुद्रा में स्थित है और उसने लम्बे हाथ करके हथेलियों को घुटनों पर रखा है।[3] इसके अतिरिक्त एक आकृति

---

१ Wheeler op cit p 95

२ Marshall, Mohanjo-daro and Indus Civilisation vol 1, pp 77 8 Mackay, The Indus Civilisation, pp 96 7 Wheeler, op cit pp 67 83 4 Piggott op cit pp 201 3

३ Mackay, op cit pp 77 8 85, Wheeler, op cit p 83 Piggott loc cit ऋग्वेद संहिता के शिश्न देवों के विषय में जानकारी के लिए देखें Proceedings and Transactions of all India Oriental Conference Patna 1930 pp 501 2 के० चट्टोपाध्याय प्रवासी भाग ३७ खण्ड २, पृ० ५५६ टिप्पणी २।

४ एक ही स्थान से मिली तीन मुद्राओं (देखें Wheeler op cit p 70) में जो आकृति पाई जाती है उसको मार्शल ने 'पशुपति' के रूप में पहचाना है (Marshall op cit vol 1 p 70)। व्हीलर ने उस आकृति को 'ध्यानस्थ और भयानक' बताया है (op cit p 83)। के० ए० नीलकण्ठ

है जिसम शाम्भवी मुद्रा[1] के सदृश आसन लगता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि भारत में योगाभ्यास का प्रचलन सम्भवत सिन्धु सभ्यता से ही प्रारम्भ हुआ हो।[2] देवो की मूर्ति पूजा का मूल स्रोत प्राग् आर्य काल में माना गया है जिसमे सिन्धु सभ्यता भी आ जाती है।[3] इस प्राग वैदिक पृष्ठभूमि के आलोक में यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग मे जो सांस्कृतिक विकास हुआ वह आर्यों और अनार्यों के तत्त्वो के एकीकरण के रूप में हुआ था जिसने उस युग के अन्त मे धार्मिक विचारो की एक वास्तविक क्रान्ति का रूप लिया। प्रारम्भिक युद्धों के पश्चात धीरे धीरे आर्यों अनार्यों के बीच की भेद रेखा धुंधली बनने लगी हो, ऐसा लगता है क्योंकि ज्यो ज्यो आर्यों मे यहा पर स्थायी रूप से निवास करने की वृत्ति पनपी त्यो त्यो उन्होने अन्तर्जातीय विवाह को भी अपनाया, जिसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब बाद मे जातिवाद के विकास मे देखने को मिलता है और इसका प्रभाव आर्यों की भाषा पर भी पड़ा।[4] इस प्रकार उत्तर वैदिक काल मे जातीय भेद भाव की ओर रग भेद की भावना का लोप होने लगा था। वैदिक

शास्त्री ने मार्शल द्वारा अभिज्ञात मत के विषय में सन्देह दिखाया है, किन्तु योग की प्राचीनता तो उन्होने भी स्वीकार की है, जैसे कि उन्होंने लिखा है, 'योगासन में स्थित आकृति एक पुरुष प्रतिमा में भी पाई जाती है तथा एक चीनी मिट्टी की विशिष्ट प्रकार की मुद्रा में भी उसी योगासन स्थित कोई देव के आगे वन्दन करता हुआ नाग दिखाई देता है (The Cultural Heritage of India vol. II p 2-) तथा पत्थर की प्रतिमा में एक आकृति योगासन में स्थित सी लगती है जिसके लिए देखें Wheeler, op cit, Plate XVII A

१ Wheeler, op cit. Plate XVI शाम्भवी मुद्रा का वर्णन इस प्रकार मिलता है अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि निमेषोन्मेषवर्जिता।' (सदृशता के लिए, घेरड सहिता ३ ६४) व्हीलर ने सकीर्ण आंखो के यौगिक प्रतिपादन के विषय में सन्देह व्यक्त किये हैं। (Wheeler, op cit P 64)

२ सदृशता के लिए देखें, प० के० चट्टोपाध्याय प्रवासी भाग ३७, खण्ड २, पृ० ५८७ से आगे, R P Chanda Indo Aryan Races pp 99 ff, 148 ff

३ S K Chatterji Vedic Age pp 160 1

४ Cambridge History of India vol I p 110, S K Chatterjee, op cit p 167

समस्त संकलन और वर्गीकरण का श्रेय ब्राह्मणों को दिया जाता है जिनके देह में अनार्य रक्त का होना निस्सन्देह रूप से सिद्ध हो चुका है[1]। यह जानना रोचक होगा कि बृहद् आरण्यक उपनिषद् में काले रंग वाले और तांबे रंग वाले पुत्र की प्राप्ति के लिए वर्णित मंत्रों का उल्लेख किया गया है[2] इसका विरोधाभास पतंजलि के उस कथन में मिलता है जिसमें उन्होंने ब्राह्मण को गौरवर्ण युक्त स्वस्थ शरीर और पिंगल केशों वाला बताया है।[3] उत्तर वैदिक काल में ज्यों ज्यों आर्य उत्तर-पूर्वी भारत में पहुंचे त्यों-त्यों आर्य और प्राग आर्यों का जातीय मिश्रण और उससे उत्पन्न मिश्रित प्रजा में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। पिग्गाट ने लिखा है— पंजाब में प्रथम बार के आर्यों के तीव्र प्रभाव के पश्चात कोई एक प्रकार की कार्यवाहक पद्धति अपनाई गई थी यदि वहां नहीं तो जब सीमा का विस्तार पूर्व की ओर हुआ तब पूर्व में गंगा द्वारा सींचित क्षेत्रों में यह हुआ और हड़प्पा के विचारों ने (सिद्धान्तों ने) ब्राह्मणों के विचार पर अपना प्रभाव जमा लिया।[4] शतपथ ब्राह्मण में एक प्रसिद्ध उद्धरण इसके सम्बन्ध में मिलता है जिसमें आर्यों के पूर्व प्रस्थान के गमन के विषय में यह कहा गया है कि कोसल और विदेह के बीच बहनेवाली सदानीरा को पार करके वे कोसल में भी आगे विदेह में संस्थापित हुए।[5] जिस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में जनक के युग की झांकी से तथा बौद्ध और जैन साहित्य से पता चलता है विदेह शीघ्र ही प्रभावशाली बौद्धिक प्रगति का केन्द्र बन गया। इस प्रकार यह लगता है कि उत्तर वैदिक काल में आर्यों के समाज और विचारों का विकास एक ऐसी स्थिति में पहुंचा था जहां पर कि प्राग्-वैदिक और प्राग् आर्य विचार धाराओं का पूरा प्रभाव उस पर पड़ा। ये विचारधाराएं उन

---

१ सहायता के लिए एस० के० चटर्जी भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० ५३ ५४ (राजकमल १९५४)

२ अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति उदौदन पाचयित्वा। सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम ईश्वरौ जनयितवै।

—बृहदारण्यकोपनिषद ६ ४ १६

३ गौर शुच्याचार कपिल पिंगलकेश इति एतान अभ्यन्तरान् ब्राह्मण्य गुणान कुर्वन्ति।

—पाणिनि पर महाभाष्य २ २ ६

४ Piggott, op cit p 286

५ शतपथ ब्राह्मण—१, ४, १, १० से १७

भ्रमण शील साधुओं और योगियों द्वारा प्रचारित होती रही जिनकी परम्परा प्राग् वैदिक काल से ही जीवित थी और जिनको वैदिक साहित्य में 'मुनि' तथा बुद्ध और महावीर के युग में 'श्रमण' अभिधान के द्वारा स्थापित किया गया।

०

अहिंसा पर्यवेक्षण में प्रयुक्त ग्रन्थ

१ अंगुत्तरनिकाय
२ अध्यात्मविचारणा
३ अनुकम्पा चौपई
४ अमितगति श्रावकाचार
५ अशोक के धर्म-लेख
६ अहिंसा
७ अहिंसा के आचार और विचार का विकास
८ आचारांग सूत्र
९ आचार्य चरितावलि
१० आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी
११ आवश्यक निर्युक्ति
१२ आवश्यकसूत्र
१३ ईश्वर गीता
१४ उत्तराध्ययनसूत्र
१५ उपासकदशांगसूत्र
१६ ऋग्वेद
१७ ऋषभचरित्र
१८ कर्मयोग शास्त्र
१९ कल्पसूत्र
२० गांधी और गांधीवाद
२१ गांधी वाणी
२२ गांधीजी सम्पा० द० अहिंसा—प्रथम भाग
२३ गांधीजी सम्पा० द० अहिंसा—द्वितीय भाग
२४ गांधीजी, सम्पा० द० अहिंसा—चतुर्थ भाग
२५ गीता
२६ गीता रहस्य
२७ गीता रामानुजभाष्य
२८ गीता शांकरभाष्य
२९ छान्दोग्य उपनिषद्

३० जम्बूदीवपण्णत्तिसूत्र
३१ जिन आगारी चौरइ
३२ जन दशन और आधुनिक विज्ञान
३३ नाताधमकथागसूत्र
३४ ठाणागसूत्र
३५ तत्त्वार्थसूत्र
३६ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम
३७ दसवेकालिकसूत्र
३८ द्वात्रिंश द्वात्रिंशिका
३९ धम अधिकरण
४० धमरत्न प्रकरण
४१ नवजीवन
४२ निशीथसूत्र
४३ निशीथसूत्रचूर्णिका
४४ निशीथसूत्रभाष्य
४५ पंचाशक
४६ पातंजलयोग सूत्र
४७ पातजलयोगसूत्र भाष्य
४८ पार्श्वचरित्र
४९ पार्श्वनाथ का चातुर्याम धम
५० पुरुषार्थ सिद्धयुपाय
५१ प्रमाणवार्तिक
५२ प्रश्नव्याकरण सूत्र
५३ प्रश्नोत्तरतत्त्वबोध
५४ बारहव्रत री चौपई
५५ बृहत्कल्पभाष्य
५६ बृहदारण्यक उपनिषद्
५७ बोधिचर्यावतार
५८ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन
५९ बौद्धधम
६० बौद्धधम-दर्शन
६१ ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
६२ भगवती सूत्र
६३ भगवती सूत्रवृत्ति

६४ भगवान् बुद्ध
६५ भारतीय वाङ्मय
६६ भारतीय संस्कृति और अहिंसा
६७ मिश्र दृष्टान्त
६८ भिक्षुसमुच्चय
६९ मंगल प्रभात
७० मनुस्मृति
७१ महाभारत
७२ युद्ध और अहिंसा
७३ लाडजी की डायरी
७४ विनोबा के विचार
७५ विशुद्धिमग्ग
७६ व्यापक धर्म भावना
७७ श्रावस्ती की चोरी
७८ शान्तसुधारसभावना
७९ श्री जैनसिद्धान्तदीपिका
८० संयुत्तनिकाय
८१ सत्य की खोज में
८२ सद्धर्ममण्डन
८३ सर्वोदय
८४ सर्वोदय दर्शन भारत में
८५ सुत्तनिपात
८६ सूत्रकृतांगसूत्र
८७ स्वतन्त्रता की ओर
८८ हरिजन
८९ हरिजन सेवक
९० भाजगी
९१ हिन्द स्वराज्य
९२ हिन्दुस्तान
93 A Review of Indian Archaeology (1953 54)
94 Ahinsa in Indian Culture
95 Ancient India (An Advanced History of India–Part 1)
96 Bodhisatva Doctrin in Buddhist Sanskrit Literature
97 Cambridge History of India

98 Elements of Jainism
99 History of Indian Literature
100 History of Philosophy Eastern and Western
101 Indian Culture
102 Indian Thought and its Development
103 Indo Aryan Races
104 Mohenjo daro and the Indus Civilization (1931) vol 1
105 Prehistoric India
106 Religion and Philosophy of the Veda (vol I)
107 Studies in Philosophy (vol 1)
108 Studies in the Origins of Buddhism
109 The Cultural Heritage of India (vol II)
110 The Indus Civilisation (by Mackay)
111 The Indus Civilisation (by Wheeler)
112 The Psychological Foundations of the State
113 The Religion of Ahimsa
114 The Vedic Age
115 Vedic Mythology
116 Voice of Ahinsa

शब्दानुक्रम

आ

भ

म

ह

लेखक की अन्य कृतिया

१ अणुव्रत जीवन-दर्शन (हिन्दी और अंग्रेजी)
२ अणु स पूर्ण की ओर
३ प्ररणा-दाप
४ अणुव्रत विचार
५ अणुव्रत दृष्टि
६ अणुव्रत क्रान्ति के बढते चरण
७ अणुव्रत आन्दोलन
८ अणुव्रत आन्दोलन और विद्यार्थी वग
९ जन दर्शन और आधुनिक विज्ञान (हिन्दी और अंग्रेजी)
१० आचाय भिक्षु और महात्मा गाधी (हिन्दी और गुजराती)
११ युग प्रवतक भगवान् महावीर
१२ तेरापन्थ दिग्दर्शन
१३ युग धम तेरापन्थ (हिन्दी और कन्नड)
१४ नवीन समाज-व्यवस्था म दान और दया (हिन्दी और अंग्रेजी)
१५ वालदीक्षा एक विवेचन
१६ आचाय श्री तुलसी एक अध्ययन (हिन्दी और अंग्रेजी)